हम कैसे जिएँ ?

प्रकाशक—
श्रीमती चतरकली जैन,
धर्मपत्नी ला० गुलशन राय जैन,
नई मण्डी, मुजफ्फर नगर।

पुस्तक प्राप्ति स्थान—
ला० गुलशन राय जैन,
मै० मुकन्द लाल गुलशन राय जैन,
मुकन्द निवास, वकील रोड,
नई मण्डी, मुजफ्फर नगर।

सम्पादक प्रथम संस्करण—
श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी, मेरठ।

प्रथम संस्करण सन् १६७१
द्वितीय संशोधित संस्करण सन् १६७७

मूल्य—स्वाध्याय व्रत

मुद्रक—
नवयुगान्तर प्रेस,
दिल्ली चुंगी, मेरठ।

दो शब्द

बचपन से ही न मालूम कौन मुझे भौतिकता से दूर कुछ खोजने के लिए, सत्य को पाने के लिए अन्दर ही अन्दर उकसाया करता था। वही आज सत्य की एक स्फुट किरण दिखाकर पूर्ण हो जाने के लिए प्रेरित करता रहता है। परन्तु जैसे घड़ा पूरा भर जाने से पूर्व पानी में घड़-घड़ शब्द करता है—तद्वत् वह अन्तर व्यक्ति भी कुछ बोलता है—जिसको सुनकर मैं भी कुछ प्रेरणा पाती हूँ तथा अन्य श्रोतागण भी आनन्द विभोर हो जाते हैं। उस वाणी में रहस्य तो ऋषियों का होने के कारण सत्य ही है—परन्तु अल्पज्ञता के कारण उसको व्यक्त करने में त्रुटि हो तो क्षम्य है। उसी वाणी का भाई राजेन्द्र कुमार जी ने बड़े परिश्रम से संचयन व श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी जी ने सम्पादन किया है। विश्वास है कि पाठकों को यह आलोक प्रदान कर सकेगी। ॐ नमः।

—ब्र० कु० कौशल

प्रसिद्ध समाज सेवी धर्म दिवाकर

लाला गुलशन राय जैन मुजफ्फरनगर

स्वभाव से विनम्र, मृदुभाषी धर्मप्रेमी प्रसिद्ध समाजसेवी लाला गुलशन राय जैन का जन्म १५ अगस्त सन् १९१४ को एक सम्भ्रान्त जैन परिवार में हुआ था। आप युवावस्था से ही धर्म के प्रति रुचि रखते थे एवं समाज के कार्यों में आगे आकर दिलचस्पी लेते थे। आपके जीवन का प्रमुख लक्ष्य समाज सेवा, सत्य व अहिंसा का पालन व प्रचार है। समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने के लिए आप सदैव चिन्तित एवं प्रयत्नशील रहते हैं। दूसरों के दुख को अपना दुख समझकर सदैव उनको दूर करना आपका प्रमुख उद्देश्य रहता है। सन् १९३२ में आपने गुड़ व खाण्डसारी के आढ़त के व्यापार में पदार्पण किया। तत्पश्चात आपने गुड़ खंडसारी का उत्पादन भी आरम्भ किया। आपकी फर्म मै० मुकन्द लाल गुलशन राय जैन मुजफ्फरनगर में ही नहीं वल्कि सारे देश की प्रसिद्ध फर्मों की गिनती में आती है। १९७५ में आप भ० महावीर २५०० वां निर्वाण सोसायटी मुजफ्फरनगर के अध्यक्ष वनाए गए। १९७६ में आप उत्तर प्रदेश दिगम्बर जैन महा समिति के अध्यक्ष चुने गये। इसके अतिरिक्त आप अनेकों महत्वपूर्ण संस्थाओं से संवन्धित हैं जिनमें से मुख्य इस प्रकार हैं—

	संस्था	पद
१-	इंडियन खांडसारी शुगर मैन्यू० एसोसियेशन, देहली।	अध्यक्ष
२-	वैस्टर्न यू० पी० गुड़ एवं खांडसारी मैन्यू० एसोसियेशन।	अध्यक्ष
३-	भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मन्दिर।	प्रधान
४-	श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, वैहलना, मुजफ्फरनगर।	अध्यक्ष
५-	स्वामी कल्याण देव आयुर्वैदिक कालेज, रामपुर।	अध्यक्ष
६-	जैन कन्या इन्टर कालेज, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर।	अध्यक्ष
७-	दीपचन्द ग्रेन चैम्वर इन्टर कालेज, मुजफ्फरनगर।	अध्यक्ष
८-	वैदिक पुत्री इन्टर कालेज, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर।	अध्यक्ष
९-	ग्रेन चैम्वर लिमिटेड, मुजफ्फरनगर।	चेयर मैन
१०-	विजय व्यापार चैम्वर लिमिटेड, मुजफ्फरनगर।	वाईस चेयरमैन
११-	श्री दिगम्बर जैन पंचायती मन्दिर, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर।	मंत्री

प्रसिद्ध समाजसेवी

श्री गुलशन राय जैन, मुजफ्फरनगर

अन्तरंग (प्रथम संस्करण)

गत वर्ष सौभाग्यवश प्रेम पीयूष प्रदायिनी बाल ब्रह्मचारिणी कु० कौशल जी ने मेरठ में अपना चातुर्मास स्थापित किया और मेरठ सदर व शहर में एक सौ के लगभग प्रवचन देकर उन्होंने अनेकों नर-नारियों का मार्ग-दर्शन किया। इससे पूर्व मुझे कभी बहिन जी के दर्शन करने या प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, हाँ कभी-कभी मेरे पास शामली चातुर्मास के समाचार भाई सुल्तानसिंह जी शामली से वीर में प्रकाशन हेतु भेजा करते थे उनको पढ़कर थोड़ी रुचि अवश्य बन गई थी, एक उत्सुकता सी जाग गई थी कि कभी अवसर मिले तो मैं भी इस महान आत्मा के दर्शन का लाभ प्राप्त करूं।

जिस समय कौशल जी मेरठ में पधारीं तो मेरे पैर स्वयमेव ही टंकी मौहल्ले की जैन धर्मशाला में उनके प्रवचन सुनने के लिए मुड़ गये। वहां पर बहिन जी मुझे साक्षात प्रेम की मूर्ति दिखाई दीं। उनकी वाणी में वह ओज था, उनके मुख पर वह दिव्य तेज था कि मेरा सिर स्वयमेव ही उनके चरणों में झुक गया और फिर मेरे मन में एक विचार आया कि क्या यह सम्भव है कि इन प्रवचनों को लिपिवद्ध करके प्रकाशित कराया जाये ताकि अधिक से अधिक लोग लाभान्वित हों। यह विचार मैंने प्रेमी जी के सम्मुख रक्खा और उन्होंने आखिर एक दिन बहिन जी के सम्मुख इसका प्रसंग छेड़ ही दिया परन्तु बहिन जी ने इस विचार को प्रोत्साहित नहीं किया। मेरे मन में एक उमंग थी और मैं बराबर प्रयत्न करता रहा कि इस कार्य के लिए बहिन जी अपनी स्वीकृति प्रदान कर दें।

एक दिन मुझे शामली के भाई जिनेन्द्र कुमार जैन से पता चला कि बहिन जी के शामली में दिये गये प्रवचन लिपिवद्ध हैं और वह फाईल मुजफ्फरनगर में श्री मूलचन्द जैन के पास है। इन प्रवचनों

की यह विशेषता थी कि इन्हें लिपिबद्ध स्वयं बहिन कौशल जी ने किया था। मैंने वह फाईल देखी। वह फाईल नहीं बल्कि एक पूर्ण ग्रन्थ था। मेरे मन में एक विचार आया कि यदि इसमें मेरठ में दिये गये कुछ विशेष प्रवचन लिपिबद्ध करके और जोड़ दिये जायें तो यह ग्रन्थ एक अमूल्य निधि बन जायेगा। मैंने इस विचार को कार्य रूप दे डाला। तथा पूज्य बहिन जी से मैंने इस शुभ कार्य के लिए स्वीकृति लेकर इस ग्रन्थ का प्रकाशन आरम्भ कर दिया। जिसमें परिणाम स्वरूप यह ग्रन्थ पाठकों की सेवा में प्रेषित है।

३० जून १९७१
मेरठ

द्वितीय संस्करण

प्रथम संस्करण की समस्त प्रतियां प्रकाशित होने के कुछ समय के बाद ही धर्मपरायण एवं स्वाध्याय में रूचि रखने वाले जिज्ञासु बन्धुओं के हाथ में पहुँच गई एवं देश के विभिन्न भागों से इस ग्रन्थ की नित्य प्रति मांग हमारे पास आई जो ग्रन्थ के उपयोगी होने का सबल प्रमाण था। अतः इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने का निश्चय किया गया।

इस द्वितीय संस्करण के प्रकाशन में प्रसिद्ध समाज सेवी धर्म भूषण दानवीर लाला गुलशन राय जैन, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर निवासी की धर्मपत्नी श्रीमती चतरकली जैन, ने आर्थिक सहयोग देकर जो धर्म कार्य किया है वह प्रशंसनीय है। आशा है इस ग्रन्थ का लाभ सभी जिज्ञासु बन्धुओं को प्राप्त होगा एवं विदुषी बाल ब्र० कु० कौशल जी की वाणी हर घर में प्रवेश करेगी तथा समाज का हर वर्ग ग्रन्थ में बताए मार्ग का अनुसरण करके सच्चे अर्थों में धर्मात्मा बनेगा।

अगस्त, १९७७
मेरठ

राजेन्द्र कुमार जैन
सम्पादक वीर

विषय-सूची

		पृष्ठ
१	धर्म क्या	१
२	कथन पद्धति	५
३	मैं की खोज	१०
४	वस्तु क्या	१८
५	मेरी शक्ति	२४
६	विविध दृष्टिकोण	३०
७	सच्चा ज्ञान	३८
८	सुख की खोज	४०
९	सुख अहिंसा में है	४३
१०	प्रेम में आनन्द है	४७
११	मैं दुखी क्यों ?	५४
१२	सुख कैसे मिले	५८
१३	मार्ग दर्शन—आदर्श देव	६३
१४	जड़ में जीवन	६७
१५	आदर्श शास्त्र	७२
१६	साहित्य का वैज्ञानिक रूप	७६
१७	आदर्श गुरु	८१
१८	अनूठी भक्ति	८७
१९	अणुव्रत की झलक	९२
२०	सुख की ओर पहला कदम	९७
२१	सुख की ओर दूसरा कदम	१०६
२२	सुख की ओर अगले-अगले कदम	११४
२३	जीवन रहस्य	११९
२४	आस्तिकता व नास्तिकता	१२३

२५	वर्तमान पीढ़ी और धर्म	१३४
२६	दुखियों की सेवा ही प्रभु की पूजा है	१४५
२७	जीवन पथ को अभिराम बना लो	१५०
२८	जगत की नश्वरता विचारो	१५५
२९	सोचो कोई शरण नहीं	१६७
३०	संसार असार है	१७५
३१	शरीर अपवित्र है	१८२
३२	मृत्यु में भी हँसो	१९४
३३	चिन्ता चिता समान है	१९९
३४	क्रोध को जीतो	२०६
३५	ब्रह्म में लीनता	२१०
३६	नया मोड़	२२६
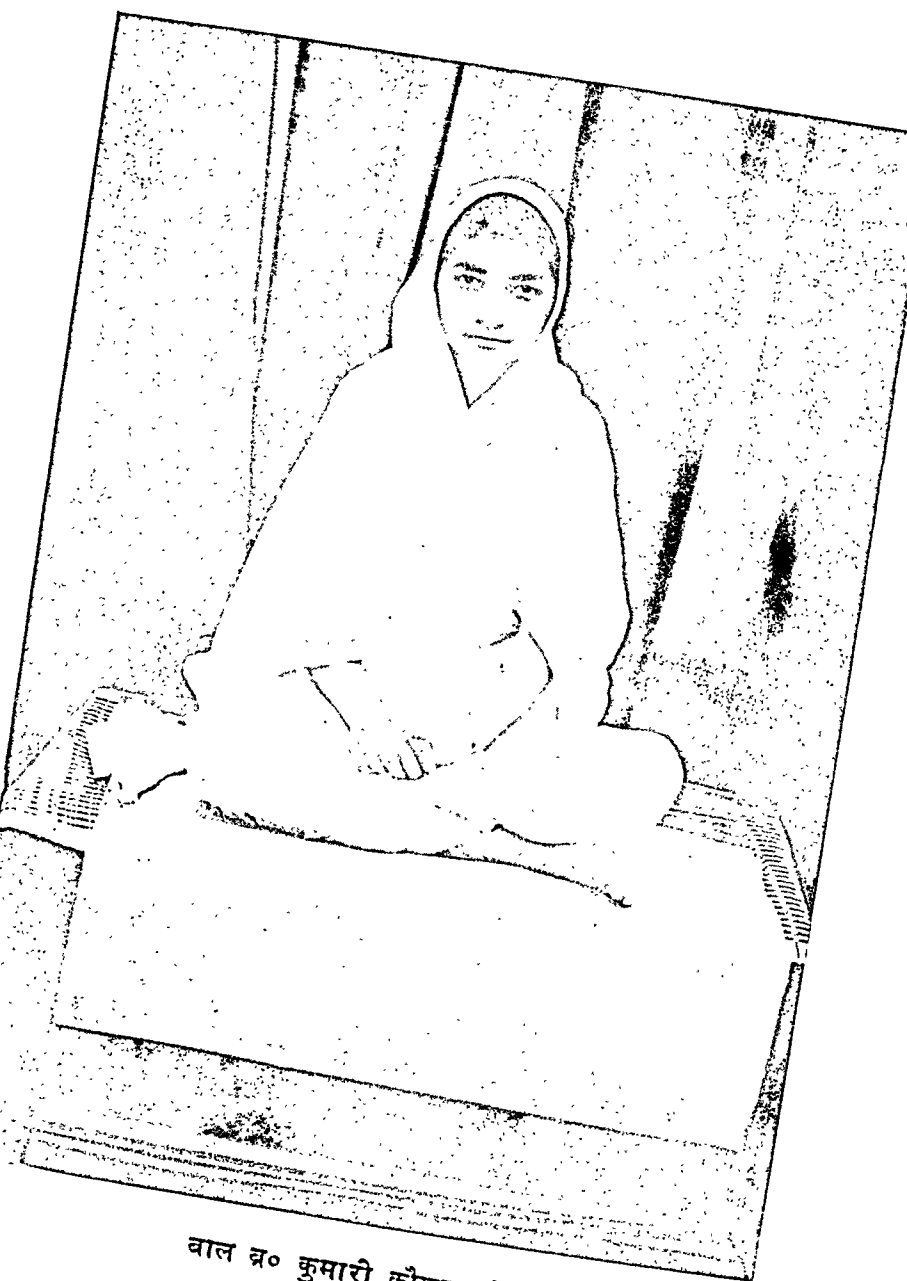
बाल ब्र० कुमारी_कौशल जी

कौशल जी के प्रति

आ उधर गर्भ से प्राची के,
दिनकर ने व्योम सजाया है।
इधर भाग्य पर आज अपने,
यह मानव अब मुस्काया है॥

कथनीय नहीं वह शब्दों से,
जो आज यह आनन्द हुआ।
हे प्रेम सूर्य ! तव दर्शन कर,
द्वेष निशाचर मन्द हुआ ॥

इस युग का है सौभाग्य यहां,
जो मिला आप सा नेता है।
जिसने लौकिक सुख त्यागा है,
जो सच्ची काम विजेता है ॥

—जिनेन्द्र जैन, शामली

प्रेम-कीर्तन

प्रेम पियूष पिलाओ भगवन्,
प्रेम पियूष पिलाओ।
तन मन जीवन तमाच्छन्न है,
पावन ज्योति जगाओ ॥टेक॥

प्रेम का पंथ निराला इस पर,
प्रभु चलना सिखलाओ।
मैं तू का कुछ भेद नहीं,
वह एक ज्योति दिखलाओ ॥१॥

हे साधु शरण इस अहंकार की,
सेना मार भगाओ।
एक तत्व दर्शन से सबका,
मन प्रमुदित हो जाओ ॥२॥

गुरु निष्ठा आदर्श प्रेम की,
द्युति को अमर बनाओ।
इस तन का कण-कण व्यापक हो,
विश्व प्रेम बन जाओ ॥३॥

पंच परम चरणाम्बुज के प्रति,
नित सब शीश झुकाओ।
शरणागत अर्हन्त सिद्ध की,
साधु धर्म मन भाओ ॥४॥

क्रोध मान ज्वालायें दोनों,
मिल अमृत बन जाओ।
क्षमा शौच मार्दव आर्जव बन,
शीतलता फैलाओ ॥५॥

'मंङ्गला-चरण'

चिदानन्दैक रूपाय जिनाय परमात्मने ।
परमात्म प्रकाशाय नित्यं शुद्धात्मने नमः ।१।।

चिदानन्दैकसद्भावं परमात्मानमव्ययम् ।
प्रणमामि सदा शान्त शान्तये सर्व कर्मणाम् ।।२।।

यदव्यक्तमवोनां व्यक्तं सद्बोध चक्षुषाम् ।
सारं यत्सर्व वस्तूनां नमस्तस्मै चिदात्मने ।।३।।

अर्थ—जो परमात्मा चिदानन्द स्वरूप है, जो समस्त कर्मों को जीत लेने से अथवा उससे सदा अस्पर्श होने से जिन अथवा मुक्त है तथा जो नित्य है ऐसे शुद्ध आत्मा को मैं अपने परमात्मा के प्रकाशार्थ नमस्कार करता हूँ ।।१।।

जिस परमात्मा के चेतन स्वरूप अनुपम आनन्द का सद्भाव है तथा जो अविनश्वर एवं शान्त हैं, उन प्रभु को मैं अपने सर्व कर्मों की शान्ति के लिये नमस्कार करता हूँ ।।२।।

जो चेतन आत्मा अज्ञानी प्राणियों के लिये अस्पष्ट तथा सम्यग्ज्ञानियों के लिये स्पष्ट है, समस्त वस्तुओं में श्रेष्ठ है, ऐसे उस चेतन आत्मा के लिए नमस्कार हो ।।४।।

धर्म क्या ?

आज हम चारों ओर देखते हैं क्या बच्चा, क्या युवा, क्या बूढ़ा, क्या व्यक्ति, क्या समाज तथा क्या राष्ट्र, समस्त विश्व मृत्यु के झूले में झूल रहा है, सर्व ओर त्राहि त्राहि मची है। चहुँ ओर अशान्ति का साम्राज्य छाया हुआ है। कहीं भी तो प्रसन्नता के चिन्ह दिखाई नहीं देते। सब ही चिन्ता व वेदनाओं की भट्टी में पड़े भड़भड़ जल रहे हैं, संतप्त हो रहे हैं। मानव चन्द्रमा पर जा पहुँचा परन्तु क्या उसके चित्त में शान्ति हो पाई है ? क्या उसने सोचा है कि उसकी तृष्णा का अन्त हो पाया है ? वह अशान्ति घटने की बजाय बराबर बढ़ती जा रही है। आखिर यह दौर कब तक चलेगा ? मानव कब तक दुःख भोगता रहेगा ? आज की विज्ञान की दौड़ ने मानव की आंखें चौंधिया दी हैं, इसको अन्धा बना दिया है। क्या तूने विचारा है जिस विज्ञान के द्वारा तू सुख के स्वप्न देख रहा है वही तेरे विनाश का कारण है, वही तेरी प्रलय का कारण है ? 'अति सर्वत्रवर्जयेत्' प्रत्येक चीज की अधिकता बुरी हुआ करती है। अवश्य ही तृष्णा रूप राक्षस से प्रेरित क्रोध के वशीभूत होकर विज्ञानशालाओं में रक्खे बम्ब फटेंगे और वे अपने साथ ही अपनी समस्त विभूतियों को ले जायेंगे और फिर पुनः पृथ्वी पर शान्ति व सुख का साम्राज्य छा जायेगा।

उन भारतीय ऋषियों को देख ! जो अपने दिव्य ज्ञान के द्वारा यहीं पर बैठे तुझे विश्व का दिग्दर्शन करा रहे हैं। शास्त्रों में समस्त सृष्टि का रूप लिखा है परन्तु समझने वाला चाहिये। वाह्य चमत्कारों के साथ-साथ भीतरी प्रकाश भी चाहिए। शरीर को सुखी रखना है तो साथ-साथ मन को भी स्वस्थ रखना है तभी जीवन पूर्ण सुखी कहा जा सकेगा। आज का ज्ञान, विज्ञान व साधन तथा जीवन भौतिक रूप से बहुत बढ़ चुका है परन्तु मानसिक व आत्मिक सुख-साधन व ज्ञान बहुत पिछड़ गया है।

इसीलिए जीवन अशान्त है। यद्यपि शरीर भी है तो साथ-साथ मन के सुख को भी ठुकरा नहीं सकते। शरीर व मन का घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि मन अस्वस्थ है तो शरीर भी अस्वस्थ हो जायेगा। अतः यहाँ पर उसी मन के स्वास्थ्य को विज्ञान प्रतिपाद्य है। यहाँ आन्तरिक जीवन शान्ति की वात चलती है जिसके आधार पर ही भारत सोने की चिड़िया कहलाता था। उसके पास थी आत्मिक शान्ति, आत्मवशता तथा स्वराज्य। भैय्या! यद्यपि वाह्य धन व सुख भी चाहिए परन्तु भीतरी अर्थात् आत्मिक शान्ति व सन्तोष भी परमावश्यक है। अतः यहां तुझे उसी का उपाय वताया जायेगा।

धर्म रूढ़ि नहीं विज्ञान है। विज्ञान कभी झूठा नहीं होता, भले उस पर कोई विश्वास न करे। विश्वास कर, सुन तथा जीवन में परख कर देख। केवल अन्धश्रद्धा से स्वीकार करने को नहीं कहा जा रहा है। एक वार जीवन में धारण करके देख! कितना मधुर है। आज तक उसके रहस्य व चमत्कारों को देखा नहीं, इसीलिये विश्वास नहीं। केवल साम्प्रदायिकता के आधार पर की जाने वाली जो धार्मिक क्रियायें शुष्क सी प्रतीत होती हैं, वही वैज्ञानिक दृष्टि से परम-सत्य स्वरूप व आनन्द देने वाली तथा सार्थक दिखाई देने लगती हैं।

प्रत्येक विज्ञान की दो धारायें होती हैं—सैद्धान्तिक व प्रायोगिक अर्थात् वस्तु स्वरूप व उसकी प्राप्ति के प्रयोग। सैद्धान्तिक धारा के विना प्रायोगिक चल नहीं सकती तथा प्रायोगिक के विना सैद्धान्तिक व्यर्थ रहती है। अतः पहले सैद्धान्तिक धारा वताई जायेगी पश्चात् प्रायोगिक। पहले विश्व को अर्थात् वस्तु स्वरूप को पढ़ा जायेगा पश्चात् सत् की प्राप्ति का उपाय।

प्रत्येक व्यक्ति धर्म के विषय में अवश्य कुछ जानता है और किसी विषय में जाने अथवा न जाने। परन्तु केवल अन्धश्रद्धान। धर्म शान्ति एवं प्रेम की स्थापना करने वाला है ऐसी अवस्था में भी जितने लड़ाई-झगड़े होते हैं वे सव धर्म के नाम पर होते हैं। विश्व के सभी देशों के इतिहास का अवलोकन करें, उनमें

अधिकतर धर्म के नाम पर ही लड़ाइयाँ हुई हैं। आखिर इतनी विषमता क्यों ? अमृत वृक्ष विष कैसे उगल सकता है ? आइये इसी पर विचार करें।

प्रत्येक योगी ने वस्तु को विश्व की गहन दृष्टि से पढ़ा है तथा उसका अनुभव किया है। उसमें किसी दृष्टा ने वस्तु को जिस दृष्टि से पढ़ा दूसरे ने उससे भिन्न ही दृष्टि से पढ़ा। किसी ने वस्तु का कोई सा अंग पढ़ा और किसी ने कोई सा। इसी प्रकार सृष्टि का विश्लेषण करते-करते दर्शन शास्त्र का विस्तार होता गया है। अब भी यह नहीं कहा जा सकता कि दर्शन-शास्त्र पूरा हो चुका है। दर्शन-शास्त्र असीम है। किसी क्षेत्र में वस्तु की कोई शक्तियाँ प्रधान हो जाती हैं और कोई गौण। किसी काल में कोई प्रधान तो किसी में दूसरी प्रधान हो जाती है। जिस प्रकार सर्दी में जो चाय लाभ पहुँचाती है गर्मी में वही हानिकारक बन जाती है। बंगाल में चावल लाभकारी व अन्य स्थान पर नहीं। तात्पर्य यह है कि द्रव्य-क्षेत्र-काल व प्रयोजन वश वस्तु की शक्तियों में प्रधानता व गौणता हुआ करती है तथा किसी विधि से प्रयोग करने पर उपकारी तथा किसी विधि से प्रयोग करने पर हानिकारक हुआ करती है। यह भी कोई आवश्यक नहीं कि सम्पूर्ण अंग सभी दृष्टाओं के द्वारा देख लिये जायें। इसी दृष्टि भेद के कारण अनेकों मत एवं दर्शन प्रचलित हो जाते हैं और वही शिष्य परम्परा से चलते चलते सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया करते हैं जो सदा झगड़े का कारण बने रहते हैं।

भैय्या ! आगम में भी जो लिखा है वह सम्पूर्ण नहीं है क्योंकि लिखने वाले सर्वज्ञ न थे। कहा भी है—

प्रज्ञापनीय भावानन्तभागस्तु अनभिलप्यानां।
प्रज्ञापनीयानां पुनः अनन्तभागः श्रुतनिबद्ध ।।गोम्मटसार।।

अर्थ—अनुभव में आये हुए अनन्त भाव तो अकथनीय हैं तथा कथनीय भावों का भी अनन्त भाग श्रुतनिबद्ध हो पाया है और उसमें भी लुप्त होता-होता हमारे पास जो आज उपलब्ध है वह

सम्पूर्ण लिपिवद्ध का भी अनन्तवां भाग है। दूसरे जिन्होंने शास्त्र लिखे हैं वे आचार्य भी तो सर्वज्ञ नहीं थे। वे भी तो छद्मस्थ थे। अतः भाई हठग्राह्यता को छोड़, सरलता ला। ज्ञान को ढीला कर। थोड़े में ही सन्तुष्ट मत हो, ज्ञान तो अत्यन्त व्यापक है।

जिस भी आचार्य ने अथवा मत में जो भी वात कही हैं वह सब सत्य हैं, क्योंकि सब ने अनुभव के आधार पर कही हैं। कोई भी वे सिर पैर की वात नहीं कहता। वे सिर पैर की भी यहाँ तो सत् है, वह भी झूठ नहीं क्योंकि यदि कोई कहता है आकाश पुष्प, गधे के सींग। यहाँ तो वह भी सत् हैं। भले ही उस पदार्थ रूप से सत् न पाये जाते हों। संसार में आकाश भी है पुष्प भी हैं तथा गधा भी है और सींग भी हैं। भैय्या! अपनी दृष्टि सत्य होनी चाहिये तो उसको ठीक वैठाया जा सकता है। यदि पक्षपात न रहे तो कोई भी मत झूठा न दीखे।

वस्तु विज्ञान की वात चल रही है—ग्रहण व त्याग की नहीं। अतः वैज्ञानिक वन। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक अपने से पूर्व के सर्व अन्वेषकों के अनुभवों को पूर्ण श्रद्धा से पढ़ता है और मनन व प्रयोग करके उसकी सत्यता सिद्ध करता है, पश्चात् उस पर से उससे आगे नया आविष्कार निकाल लेता है। वह यह नहीं कहता कि अमुक की वात गलत है वह मैं नहीं पढ़ूंगा। इसी प्रकार से यहां भी सभी आध्यात्मिक वैज्ञानिकों के अनुभवों को पढ़-मनन कर और अनुभव कर। ऋषियों ने भी अन्धविश्वास करने को नहीं कहा है—उन्होंने सर्वज्ञ अनुभव को ही प्रधान कहा है।

परन्तु उपरोक्त साम्प्रदायिक पक्ष के कारण लड़ाई होती चली आ रही है। आज तक यथार्थ व व्यापक दृष्टि जागृत न करने के कारण द्वेष व कलह का पोषण करते चले आ रहे हैं। अव हठ को छोड़कर व्यापक अनेकान्त अर्थात् सर्व-पक्ष समन्वय की शरण में आओ। सरलता व प्रेम उत्पन्न करो।

———

कथन पद्धति

सम्पूर्ण ज्ञान की व्यापकता को प्राप्त प्रभु ! हमको भी वह ज्ञान प्रदान करें जिससे हम भी समस्त विश्व को युगपत अविरोध रूप से स्पष्ट प्रत्यक्ष करके समस्त पक्षों से छूट जायें। हमारे चित्त में भी सरलता व प्रेम जागृत हो जिसमें हमें समस्त विश्व एक परिवारवत् भासने लगे।

विश्व को पढ़ने के लिए हमें वस्तु को पढ़ना होगा। उसके तीन उपाय हैं एक तो वस्तु को साक्षात देख या अनुभव कर ली जाये। दूसरे उसका चित्र व उसके अनुरूप दूसरी वस्तु देख ली जाये। तीसरे अनुमान से उस वस्तु का स्वरूप जाना जाये। जैसे किसी को शेर बताना हो तो बिल्ली दिखाकर कहना कि शकल में शेर इसके जैसा होता है परन्तु ऊंचा गधे जितना होता है। इसमें शेर से मेल खाती दो वस्तुओं को बताकर शेर का ज्ञान कराया गया है। पहले दो उपाय तो तव सम्भव हैं जवकि पदार्थ दृष्ट व उपलब्ध हो। परन्तु यदि पदार्थ अदृष्ट हो तो उसको तीसरे मार्ग के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है। जिस प्रकार मैंने सन् १६५५ की नुमाइश में एक फल देखा, जो कि भारत में नहीं पाया जाता। वह फल मैं आपको लाकर तो प्रत्यक्ष दिखा नहीं सकती। परन्तु हां उसका धुन्धला सा दिग्दर्शन विभिन्न फलों के दृष्टान्त देकर वता सकती हूँ। अर्थात् मैं ऐसे फलों को आपके सामने लाऊं जिनके रंग, स्वाद, आकार व गंधादि उसका प्रतिनिधित्व करते हों। सारी चीजें किसी एक चीज में तो उपलब्ध हो नहीं सकतीं, हां अनेकों फलों में उससे मिलती कुछ कुछ शक्तियाँ अवश्य मिल जायेंगी। मैं उसे ऐसे बताऊंगी कि वह फल आकार में तरबूज जितना होता है, उसका रंग खरबूजे जैसा होता है परन्तु उस पर धारी नहीं होती। उसके बीज पपीते जैसे होते हैं। उसका स्वाद

अंगूर व कुछ सेव का सा होता है, परन्तु कठोर होता है कुछ कैंथ की भांति । इस प्रकार विभिन्न दृष्टान्त देकर उस फल का अनुमान मात्र कराया जा सकता है ।

यद्यपि इस दृष्टान्त पर से उसे फल का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाया, परन्तु इतना अवश्य है कि धुन्धली सी रूपरेखा उस वस्तु की आपके ज्ञान पर अवश्य पड़ गई है जिससे आप जव कभी उस फल को देखोगे तो पहिचान जाओगे हां यह वह पदार्थ है जो कि वताया गया था । पदार्थ को देखने से पूर्व वह ज्ञान परोक्ष तथा संशय की कोटि में पड़ा था, परन्तु पदार्थ का प्रत्यक्ष हो जाने पर वहीं ज्ञान प्रत्यक्ष व सच्चा हो गया । यहाँ जिस आत्म पदार्थ के सम्बन्ध में कथन होगा वह भी साधारणतः दृष्ट नहीं है । इसीलिए उपरोक्त मार्ग ही पकड़ना होगा । अर्थात् उसकी समस्त शक्तियों को क्रम से वताया जायेगा, जिससे उसकी कुछ धुन्धलीसी रूप रेखा आपके ज्ञान पट पर वैठ जाये । फिर कदाचित् मनन के पश्चात् उसका दर्शन आप करोगे तो आपको विश्वास हो जायेगा कि यही वह आत्मा है ।

अव विचारना है कि वस्तु के सम्पूर्ण अंगों को सुनकर उस ज्ञान का रूप कैसा होना चाहिये ? वस्तु के अनुरूप या कुछ हीनाधिक । परोक्ष ज्ञान का यह अर्थ नहीं कि सेव को आप आम कहते हों, अगर ऐसा है तो वह ज्ञान झूठ है । परोक्ष ज्ञान तो वस्तु के अनुरूप होता है । किसी वस्तु का चित्रण खींचने के दो उपाय हैं या तो उसका फोटो खेंच लूं अथवा हाथ से पेन्टिंग कर दूं । तीसरा कोई उपाय नहीं है । फोटो तो वस्तु के पूर्ण अनुरूप होगा, उसमें तो हीनाधिकता होनी असम्भव है । उसमें तो यदि किसी के मुंह पर कोई दाग़ है तो वह भी आयेगा और सुन्दर आकृति है तो वह भी जूं की तूं आयेगी । इसलिये फोटो या प्रतिविम्व तो वस्तु के अनुरूप होने से सत्य होता है । परन्तु चित्रण में मैं अपनी इच्छा से उसमें हीनाधिकता कर सकती हूँ, उसके मुँह के निशान को साफ करके उसकी आंखें छोटी वना सकती हूँ । परन्तु क्या वह चित्र वस्तु के अनुरूप कहलायेगा ? नहीं । इसलिये चित्र व फोटो में

महान अन्तर है। ज्ञान तो दर्पण-वत् है, अतः यहाँ वस्तु के पूर्णरूपेण अनुरूप बना हुआ चित्र ही सत्य कहा जा सकेगा। जानने में अर्थात् ज्ञान में विष्टा का भी वही स्थान है जो कि मिष्टान्न का। विष्टा को निकाल देने पर विश्व का ज्ञान अधूरा कहलायेगा क्योंकि यहाँ वस्तु ज्ञान का प्रकरण है ग्रहण व त्याग रूप चारित्र का नहीं। यहाँ तो वस्तु के स्वरूप को श्रोता के ज्ञान पर पहुँचाना है।

वस्तु को श्रोता तक पहुँचाने के लिये हमारे पास साधन केवल शब्द हैं। वह शब्द भी जो कि सम्पूर्ण वस्तु को एकदम प्रतिपादन नहीं कर सकता। उसके एक एक अंगों को लेकर क्रम से श्रोता के कर्ण प्रदेश तक पहुँचायें। श्रोता भी सम्पूर्ण अंगों को क्रम से सुनकर संग्रह करता जाये। यदि एक भी अंग छूट गया तो वस्तु के पूर्ण अनुरूप चित्र न बन सकेगा। अर्थात् अखण्ड वस्तु को शब्द धारा का रूप दे देवें। वक्ता का कार्य समाप्त हो गया। आगे कार्य श्रोता का है कि वह उन सब अंगों को यथास्थान फिट करके, वस्तु के अनुरूप चित्र बना ले। इससे श्रोता को वस्तु का कुछ आभास मात्र हो जायेगा। इस ज्ञान को ही परोक्ष ज्ञान कहते हैं, इसी को दृष्टान्त द्वारा समझाती हूँ।

देखिये आपकी फैक्ट्री है, आप इसको शामली से उठाकर देहली ले जाना चाहते हैं। इसके दो उपाय हैं या तो कोई हनुमान समान शक्तिवान सारी मशीनों को पर्वत की भाँति उठाकर ले जावे, यह तो असम्भव है। दूसरा उपाय यह है कि इसके समस्त पुर्जे खोलकर अलग-अलग कर दिये जावें और उनको गाड़ियों में लादकर देहली पहुँचा दिये जावे। लादने के समय यह विवेक नहीं कि कौन पुर्जा पहले जावे कौन पीछे। वहाँ जाकर मशीन के समस्त पुर्जों को यथा-स्थान फिट न करें अर्थात् छोटे के स्थान पर बड़ा पुर्जा लगावें और बड़े के स्थान पर छोटा पुर्जा लगावें तो क्या मशीन चल सकेगी? अथवा तो यह कहें कि यह तो छोटी सी कील है इसका कोई मूल्य नहीं, इसको छोड़ दो तो क्या तब मशीन चूर चूर न हो जायेगी? अर्थात् मशीन न चलकर लोहे के जंग लग जायेगा। अतः सारांश यह है कि

यथास्थान समस्त पुर्जों को फिट करके लगाने से ही मशीन चल सकेगी। जो मशीन को फिट करना नहीं जानता उसके लिये तो वह केवल लोहे का ढेर मात्र है, परन्तु जो जानता है उसके लिये प्रयोजनीय है। इसी प्रकार जो वस्तु को खण्ड खण्ड करके उसको वक्ता तक पहुँचा दे और वह उसको यथास्थान वैठा ले तो वस्तु का पूर्ण चित्र वन जायेगा। यदि कोई हाथ के स्थान पर पाँव और पाँव के स्थान पर आँख तथा नाक के स्थान पर कान व कान के स्थान पर नाक तथा पेट के स्थान पर मुँह लगा देवे तो क्या मनुष्य के पूर्ण अंग होते हुए भी मानव का चित्र वन सकेगा ? नहीं !

इसी प्रकार देखिये आज का टेलीविजन विज्ञान। दूर वैठे व्यक्ति की फोटो भी आपके पास आ जाती है। वह किस साधन से ? उसका भी यही उपाय है कि विजली के द्वारा फोटो को धारा का रूप देकर आपकी ओर फेंक दिया जाता है और आपका टैलीविजन सैट उस धारा को पकड़ कर उसको अखण्ड चित्र का रूप दे देता है। इसी को इस ढंग से समझिये। इस कागज पर यह चन्द्रमा का चित्र है। यह एक वन्द गत्ते का डिव्वा है इसको इसमें पहुँचाना है। डिव्वे में केवल सुई जितना सुराख है। वताइये क्या लम्वाई चौड़ाई रखने वाला चन्द्रमा इस छोटे से सुराख से इस डिव्वे में जा सकता है। साधारण रूप से देखने पर तो यह कार्य असम्भव दीखता है। परन्तु थोड़ा वुद्धि का प्रयोग मांगता है। एक गत्ता लें। उस पर वरावर सटाकर-वरावर धागा लपेट दें। यह एक कागज की भाँति वन जायेगा। उसके ऊपर चन्द्रमा के चित्र को खींच दें। अव इस धागे को उस डिव्वे में सूक्ष्म सूराख द्वारा पहुँचा दें। वताइये चन्द्रमा डिव्वे में पहुँच गया या नहीं। जो जानता है उसके लिये चन्द्रमा है परन्तु जो जानता नहीं वह तो कहेगा कि व्यर्थ ही धागों को गन्दा कर दिया। वह काले धव्वों का ढेर भी चन्द्रमा नहीं है अपितु यदि डिव्वे के अन्दर वैठा कोई व्यक्ति उतना ही वड़ा गत्ता लेकर उस धागे को उसी प्रकार यथास्थान फिट करके लपेट दे तो क्या चन्द्रमा नहीं वन जायेगा ? परन्तु यदि उसमें से एक भी चिन्ह निकाल दे अथवा यथास्थान न लगाये तो चन्द्रमा का आकार नहीं वन सकेगा।

दृष्टान्त तो दृष्टान्त के लिये हुआ करते हैं। इसी प्रकार अखण्ड वस्तु को शब्द रूप धागे के द्वारा श्रोता के हृदय रूप डिब्बे में पहुँचा दें और श्रोता उसको सुनकर समस्त अंगों को यथास्थान फिट करके अखण्ड रूप चित्र बना ले तो वक्ता के हृदय की वस्तु श्रोता तक पहुँच गई समझो। परन्तु यदि समस्त अंगों को न सुने तथा सुनकर भी जो उसको यथास्थान फिट न करे तो उसके लिये वह शब्द-ज्ञान भी गधे का भार मात्र है अर्थात् वस्तु के अनुरूप ज्ञान चित्र न बनने से अप्रयोजनीय है। यह है वस्तु को कथन करने की पद्धति। इन्हीं की शास्त्रीय संज्ञायें नीचे लिखी जाती हैं।

१. उपरोक्त सर्व कथन में वक्ता के हृदय में बैठा वस्तु का अखण्ड चित्रण प्रमाण ज्ञान कहलाता है।

२. वक्ता के द्वारा वस्तु का एक अंग मुख्य करके कहा जाना नयज्ञान कहा जाता है।

३. श्रोता के हृदय में अन्य अंगों से निर्पेक्ष केवल एक अंग का ज्ञान मिथ्यानय वा मिथ्या एकान्त कहा जाता है।

४. श्रोता के हृदय में वस्तु के अनुरूप चित्र से रहित समस्त अंगों का ज्ञान मिथ्या अनेकान्त कहा जाता है।

५. श्रोता के हृदय में अन्य अंगों के सापेक्ष एक अंग का ज्ञान सम्यग् नय वा सम्यग् एकान्त कहलाता है।

६. श्रोता के हृदय में पड़ा वस्तु के अनुरूप चित्र ज्ञान से युक्त समस्त अंगों का ज्ञान सम्यग् अनेकान्त कहा जाता है।

७. श्रोता के हृदय में बना अनुभव रहित वस्तु के अनुरूप चित्र परोक्ष-प्रमाण कहा जाता है।

८. श्रोता के हृदय में पड़ा वस्तु का प्रतिबिम्ब वा अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है।

मैं की खोज

हे नाथ ! अपने उस सच्चिदानन्द रूप को जाने विना आज तक चौरासी लाख योनियों में भटकता फिरता रहा। हे प्रभु ! आज आपकी शरण को प्राप्त होकर भी क्या मैं अपने को न देख पाऊँगा ? सुनते हैं जो आपकी शरण में आता है वह परम तृप्त होकर जाता है। उसका अज्ञान एवं ताप सब मिट जाता है। हे त्रिभुवन तापहारी भगवन् ! मुझे भी वह दिव्य दृष्टि दीजिये, जिससे मैं भी अपने आनन्द एवं तृप्तिकर रूप को जानकर कृतकृत्य हो सकूँ।

अभी तक वस्तु की समस्त शक्तियों का रूप तथा उनका संज्ञाकरण किया। आज उस तत्व को जानना है जो कि हम स्वयं हैं। आज तक जगत को जानते रहे परन्तु जो जानने वाला है उसको अभी तक न जाना। आज उस जानने वाले को ही जानना है। देखिये धन कुटुम्बादि तो प्रत्यक्ष रूप से ही भिन्न हैं। उस रूप तो हम हैं नहीं। अव आगे जो निकट सम्बन्धित हैं, जो हमारे साथ घुलमिल कर पड़ा हुआ है उससे भिन्न अनुभव करना थोड़ा कठिन रहता है। इसमें क्या तू हाथ है, पाँव है, आंख है, नाक वा कान है, पेट वा छाती है ? नहीं, यह भी तू नहीं है क्योंकि इन सवको क्रम से तू 'मेरा' कहता है 'मैं' नहीं। इसी प्रकार इन सवको मिलाकर जो यह पूर्ण शरीर है इसको भी तू 'मेरा' शरीर कहता है 'मैं' शरीर नहीं। एक समय एक शिष्य ने गुरू के आश्रम में जाकर अध्यात्म विद्या प्राप्त करने की जिज्ञासा प्रकट की। गुरू ने उसको भव्य जानकर अपने पास रख लिया। एक दिन शिष्य से कहा चलो वेटा तुम्हें जंगल में से समिधा लाने का स्थान वता दूं जिससे तुम प्रतिदिन जाकर ले आया करो। गुरू आगे शिष्य पीछे पीछे चले जा रहे थे, कुछ ही दूर जाने पर गुरू ने कहा—वेटा कुटिया की छत में जो वह लाठी लगी है वह ले आओ। शिष्य ने वापस जाकर ज्यों ही छत

में से लाठी निकाली त्यों ही सारी कुटिया धम से गिर पड़ी। शिष्य बेचारा उदास होकर एक तरफ खड़ा आंसू बहाने लगा। सोच रहा था गुरुदेव के सामने क्या मुँह लेकर जाऊँ ? गुरुदेव तो सब कुछ जानते थे। कुछ देर तक प्रतीक्षा करने पर समझ गये और लौटकर शिष्य को सम्बोधने लगे। क्यों बेटा ! क्या बात है, रो क्यों रहे हो ? इसलिये न कि कुटिया गिर गई है ? बताओ तो सही रस्सी, तृण व बल्ली इन सब में कुटिया किस चीज का नाम है ? यदि इन पृथक्-पृथक् या समूह रूप सब चीजों का नाम कुटिया है तो ये सब तो अब भी पड़ी हुई हैं। इन सबको मिलाकर जो रूप बन गया था उसी आकार को ही तो कुटिया नाम दे दिया गया था। जिस प्रकार इन सबको मिलाकर यह पर्णकुटी है इसी प्रकार पंच भूतों के मिलने से यह शरीर रूप पंचकुटी बनी है। इसमें हड्डी, पृथ्वी का भाग, रक्त व पसेव जल का भाग, आँखों में तेज, उदर में जठराग्नि, शरीर में चमक यह अग्नि का भाग है, श्वास-प्रश्वास वा जिसके कारण रक्त का संचार होता है तथा मल का उत्सर्ग होता है वह वायु का भाग; पेट मुँह व कानादि में जो पोलाहट है वह आकाश का भाग है। जिस प्रकार इस पर्णकुटी के गिरने पर तू पृथक् खड़ा है, इसी प्रकार इस पंचकुटी के गिर जाने पर भी तू जानने वाला पृथक् खड़ा रहता है। देखिये जिस समय आप किसी कार्य विशेष में संलग्न हों, जैसे लड़की की शादी के कार्य में उलझे हुए हों तो उस समय आपको भूख नहीं लगती, न प्यास लगती है तथा शरीर में चोट लग जाने पर भी महसूस नहीं होती है। क्यों नहीं उस समय अनुभव होती और बाद में महसूस होने लगती है ? उत्तर मिलता है उस समय ध्यान नहीं था। बस जिसे आप ध्यान कह रहे हो उसी को तो यहाँ आत्मा का जीव कहा जाता है। शरीर आत्मा होता अथवा पंचभूतों से मिलकर आत्म-शक्ति होती तो शरीर में चोट लगने पर उसी समय पीड़ा होनी चाहिये थी। अर्थात् मैं शरीर से भिन्न, पहले बताये वेदनादि शक्तियों से समन्वित मैं हूँ।

इस स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक भीतर में वासनामय शरीर

और है, जिसको सूक्ष्म वा कार्माण शरीर भी कहते हैं। मृत्यु के पश्चात् इस स्थूल शरीर को तो हम यहीं छोड़ जाते हैं, परन्तु वह सूक्ष्म शरीर हमारे साथ जाता है। इसी से वहाँ जाकर पुनः स्थूल शरीर का भी निर्माण हो जाता है। जीव उपयोगमयी है। इसमें जो जागतिक पदार्थों को देखकर मेरे-तेरे, अच्छे-बुरे, ग्रहण-त्याग व इष्ट-निष्ट की असत् कल्पनायें होती हैं, यह तेरा रूप नहीं है क्योंकि यह भी क्षणिक तथा किन्हीं पदार्थों को देखकर होती हैं, सदा व सभी पदार्थों को देखकर नहीं होती। जिस प्रकार एक सद् जगत वाहर वसा हुआ है उसी प्रकार एक काल्पनिक जगत् भीतर वसा हुआ है जिसकी अनुभूति स्वप्न में हुआ करती है।

एक समय की बात है कि विदेही राजा जनक अपनी शय्या पर सुख से सो रहे थे तव उनको स्वप्न में दीखा कि विरोधी राजा के द्वारा ये पराजित कर दिये गए। प्राणरक्षा के अर्थ वे युद्ध-भूमि से भाग कर जंगल में घुस गये। गर्मी का मौसम था। आठ दिन हो गये भूखे जंगल में चलते चलते, भूख व प्यास से मानों प्राण कण्ठ को आ रहे हैं। शरीर पर एक धोती मात्र है, वह भी मैली हो गई है। नवें दिन वह एक ग्राम में पहुँचते हैं। वहाँ राजशाही संस्कार होने से भीख मांगने को हाथ नहीं पसरता, परन्तु भूखा मरता क्या नहीं करता। एक स्थान पर भूखों को खिचड़ी वट रही थी, यह भी एक तरफ को जाकर खड़े हो गये। चुपचाप खड़े रहने से अन्त में एक पत्ते पर वची कुची तथा जली हुई थोड़ी सी खिचड़ी मिली। उसको ज्यों ही खाना चाहते थे त्यों ही दो वैल लड़ते-लड़ते आ गये और वह खिचड़ी भी हाथ से छूटकर नाली में गिरी कि राजा की नींद भी खुल गई। तव राजा सोचते हैं जो स्वप्न में देख रहा था, वह ठीक है या यह जो सुन्दर महल देख रहा हूँ यह ठीक है। समझ नहीं आता। तव राजा ने अपनी विद्वद्सभा में एक प्रश्न किया कि "यह सत् कि वह सत्"। यह वह का वाच्य न समझने से कोई भी विद्वान् उसका उत्तर न दे सका। तव एक प्रतिभा-सम्पन्न वालक अष्टावक्र ने उत्तर दिया कि न यह सत् न वह सत्। राजा का समाधान हो

गया। परन्तु सारी सभा में आश्चर्य की सीमा न रही। तब बालक ने कहा कि राजा को स्वप्न हुआ है जिसको लज्जा के कारण वे बता नहीं रहे हैं। यह जगत के नाम-रूप सब क्षणिक होने से असत् है अर्थात् (सत् त्रिकाली) तथा स्वप्न कल्पना रूप होने से वह भी असत् है। जो स्वप्न में भी मैं देख रहा हूँ वा "मैंने स्वप्न देखा" ऐसा दृष्टा ही सत् है और वही आत्मा है।

राग-द्वेष रूप कल्पनाओं का नाम ही अहंकार, मन, कषायों रूप आन्तरिक जगत है। इसके अतिरिक्त यह जान, वह जान, यह अमुक, यह इससे भिन्न है, ऐसे विकल्प रूप ग्रहण है उसको बुद्धि कहते हैं। आत्मा उससे भी अतीत है। वह मात्र ज्ञान रूप है विकल्प रूप नहीं। इस प्रकार बाह्य व भीतर के समस्त आवरणों के पीछे वह तत्व प्रकाशमान है। उसको प्राप्त करने के लिये बाहर से हटकर क्रम से अशुभ विकल्प रूप राग-द्वेष व शुभ विकल्पों को भी छोड़कर मैं यह ज्ञान स्वरूप हूँ ऐसा आत्म-विचार कर। यहाँ तक पुरुषार्थ होता है। इससे आगे मैं निर्विकल्प हो जाऊँ? ऐसे विचार करने से निर्विकल्प हुआ नहीं जाता। निर्विकल्प होने का भी तो यह एक विकल्प है। यह भी जब स्वयं छूट जाये तो सहज आनन्द स्थिति प्राप्त होती है।

इस प्रकार इन सब आवरणों के पीछे उसकी प्राप्ति की बात तो बाद में परन्तु उसके दर्शन कैसे हों? यह तो जान लिया कि इन सबसे पृथक आत्मा है, यह तो मात्र शाब्दिक ज्ञान रहा है। इसी की बात चलती है। पहले भी कहा है कि आत्मा भावात्मक तत्व है इसको जाना भी भाव ही जायेगा। मोक्षशास्त्र में भी कहा है—"तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्दर्शन" इसी की व्याख्या कर लें। तत्त्वार्थ शब्द तीन शब्दों का योग रूप है—तत्+त्व+अर्थ। तत् का अर्थ है जो अर्थात् तत् यत् की अपेक्षा रखता है जैसे मैंने कहा कि वह देहली गया। तो पूछ उठेंगे कि कौन? अर्थात् सर्वनाम संज्ञा की अपेक्षा रखता है। तत् अर्थात् जो कि अभिप्रेत हो, जिसका प्रसंग वा प्रयोजन हो। त्व अर्थात् पना। त्व स्वभाव को कहते हैं जैसे शीतलपना, जलपना,

जीवपना आदि। जिसको पहले पारिणामिक भाव रूप से कहा गया है। अर्थ अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय। सबका सामूहिक अर्थ हुआ कि जो वस्तु प्रयोजनीय है उसका द्रव्यपना, गुणपना व पर्यायपना सम्यक् अर्थात् जैसा है वैसा का वैसा ग्रहण करना। जीव का जो द्रव्यादि-पना है उसको दूसरे में न मिलाकर पृथक् वैसा ग्रहण करना सो सम्यक्-दर्शन है। एक का दूसरे द्रव्यादि में मिलाकर देखना सो मिथ्यादर्शन है, गलत वा झूठ देखना है। यह ठीक व्याख्या हुई।

परन्तु इसमें दर्शन शब्द विशेष रूप से दिया गया है ज्ञान नहीं दिया है। कहीं-कहीं पर श्रद्धा शब्द भी दिया है परन्तु वह कार्य में कारण का उपचार करके है। वास्तव में पहले दर्शन होता है और उसी की मुख्यता है। 'दर्शन' को हम कहते हैं हमने भगवान के दर्शन कर लिये। परन्तु यहाँ उसको ज्ञान कहा जायेगा। जीव का लक्षण भी किया गया है।—'उपयोगो लक्षणं' स द्विविधो। जीव का लक्षण उपयोग है। वह दो प्रकार का होता है—ज्ञान व दर्शन। यहाँ दर्शन को ज्ञान से पृथक् बताया है। अतः दर्शन एक विशेष भाव है।

देखिये हम जब बाहरी पदार्थों के द्रव्यात्मक रूप को जानते हैं तब 'यह घट है यह पट है, यह काला है' ऐसी विशेषताओं को ग्रहण करता है, यह, 'मैं आम को जानता है' ऐसे विकल्प होता है। इस वस्तु का यह आकार है तथा बाह्य पदार्थों को जानते समय उपयोग की वृत्ति बाहर की ओर होती है। इसलिए ज्ञान सविशेष, सविकल्प, साकार व बहिर्चित्प्रकाश रूप चार विशेषणों वाला होता है। परन्तु जब आम के स्वाद को चख रहे होते हैं तो क्या आम के स्वाद का कोई आकार होता है, अथवा उस समय कोई विकल्प होता है कि मैं आम को चख रहा हूँ अतः आम का स्वाद तो निर्विकल्प व निराकार है तथा समय उपयोग भी उस स्वाद के साथ तन्मय होने से अन्तर्मुखी है। इस प्रकार अन्तस्तत्व के साथ तन्मय हुए बिना उसके निर्विशेष निर्विकल्प आनन्द का दर्शन होना दुर्लभ नहीं असम्भव है। उसी को यहाँ दर्शन कहा है।

परन्तु यहां हमारा अनुभूत पदार्थ आमवत् एक स्वतन्त्र पृथक द्रव्य नहीं है। यह थोड़ी सी कठिनाई है। आत्मा उपयोग रूप है। उपयोग में उपरोक्त अनेकों प्रकार का मिश्रण है उससे हमें भिन्न दर्शन वा अनुभव करना है। उसी का उपाय बताया जाता है। जिस प्रकार किटीका से मिले स्वर्ण को भी उसके सर्व मिश्रण को छोड़कर सोने के स्वर्णत्व भाव पर दृष्टि रखकर सोने को भिन्न देख लिया जाता है, उस समय सर्व किटीका दीखती भी नहीं दीखती तथा जिस प्रकार अनेकों खटाई, मिर्च, हरर व जीरा आदि मिले जीरे के पानी में से नमक को भिन्न रूप से अनुभव में ले लिया जाता है, उस समय जिह्वा पर रक्खी दूसरी वस्तुओं का स्वाद आते हुए भी नमक पर दृष्टि रख ली जाती है। इसी प्रकार उपयोग में अनेकों विकल्प व कषायों के मिले रहने पर भी दृष्टि वा लक्ष्य पारिणामिक भाव स्वरूप चेतनत्व, ज्ञानमात्र वा उपयोग मात्र पर दृष्टि रखी जा सकती है। जिस प्रकार आँखों से देखने पर तो अथवा पर्याय से देखने पर जीरे के पानी में केवल शुद्ध नमक ही नहीं है, इसी प्रकार साधारणतः देखने पर तो उपयोग में मात्र शुद्ध आत्म रूप नहीं है। हृदय चक्षु से ही नमक भिन्न तथा शुद्ध दीखता है तथा हृदय चक्षु से ही वह शुद्धात्मा पृथक् शुद्ध दीखती है। हृदय चक्षु से शुद्ध देख लेने पर भी नमक को अवस्था से सर्वथा शुद्ध नहीं मान लिया जाता, अपितु दृष्टि में एक बार आ जाने पर फिर प्रयोग द्वारा शुद्ध करने का पुरुषार्थ होता है। इसी प्रकार अन्तरंग चक्षु से कषाय मिश्रित उपयोग में 'ज्ञ' मात्र शुद्ध देखकर पर्याय से शुद्ध नहीं माना जाता। चारित्र रूप पुरुषार्थ से ही उसको शुद्ध किया जाता है।

जिस प्रकार पुनः पुनः स्वर्ण-पाषाण वा जीरे के पानी पर दृष्टि दिलाने पर भी स्वर्ण से स्वर्ण वा नमकत्व से नमक दृष्टि में नहीं आता, इसी प्रकार अनुभव करते हुए भी पुनः पुनः उपयोग दिया जाने पर भी वह आत्मा दृष्टि में नहीं आती। जिस प्रकार कभी पुरुषार्थ द्वारा सहज ही स्वर्ण व नमक का क्षणिक भिन्न भान हो जाता है, उसी प्रकार पुनः पुनः विचार करने से आत्मा का वह ज्ञानरूप दृष्टि में आ जाता है। परन्तु एक प्रथम वार का हुआ

थोड़ा सा लक्ष्य एक वार वितृप्त अवश्य हो जाता है, इसी को उपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं। उसके पश्चात् भले यह छूट जाये परन्तु अपनी स्मृति अवश्य छोड़ जाता है जिससे प्रेरित होकर जीव उसको पाने का प्रयत्न अवश्य करता है। इसी से कहा जाता है कि भले सम्यग्-दर्शन होकर छूट जाये परन्तु उसे मोक्ष का सर्टीफिकेट तो मिल गया। इस प्रकार वह जिज्ञासु पुनः पुरुषार्थ करता है, उस समय उसकी दृष्टि में कुछ-कुछ सदोष रूप सा भासा करता है जैसे भोजन करते रोटी में थोड़ी किरकिराहट आने पर भी घी आदि से भिन्न रोटी का स्वाद भिन्न आता है। इसी प्रकार अपने आनन्दमय रूप का भिन्न अवभासन होते हुए भी कुछ-कुछ धुन्धला सा रूप रहता है। इसी को क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं और जब पूर्ण दृष्टि उस भाव पर टिक जाती है तब कषायादि मिश्रित उपयोग में भी कभी दृष्टि उस पर च्युत नहीं हो पाती, उसको क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस प्रकार उस सहज प्रभु का रूप अनुभव रूप से लक्ष्य में लेने पर भी इतना हर्ष व आनन्द होता है जो अवर्णनीय है। जिस प्रकार वहुत परिश्रम करके जब किटीका में से स्वर्णत्व से स्वर्ण की पहिचान होती है तव वड़ा हर्ष होता है। पहिचान हो जाने के क्षण में ही वह पहिचान वड़ी सरल लगती है तथा अपनी पूर्व दशा पर उसको खेद होता है तथा इसी प्रकार से ही सम्यग्दृष्टि वन जाने पर उस जीव को वह सहज लगता है तथा उसे भी अपनी पूर्व की अज्ञानता पर हँसी आती है तथा विचारता है कि "तू तो वड़ा मूर्ख था कि उसको नित्य अनुभव करते भी अनुभव नहीं कर रहा था।"

इस प्रकार ज्ञेय रूप से अनुभव में लेने के समय जो कुछ भाव में सहज आनन्द सा वर्तता है, उसका नाम स्वरूपाचरण चरित्र कहा जाता है। परन्तु यहाँ दो वातें ध्यान में रखने की हैं कि ज्ञेयरूप केवल जानने रूप नहीं अपितु अनुभव रूप से केवल लक्ष्य लेना है। दूसरे जिस समय उसकी कषाय मिश्रित उपयोग में से शुद्धात्मा पर दृष्टि गई है उस समय कषाय भी वहाँ है और उनका अनुभव भी हो रहा है क्योंकि अनुभव हमेशा पर्याय का होता है। जैसे जीरे के

पानी में से नमक को लक्ष्य में लिया है परन्तु अनुभव तो शेष मिर्चादि का भी हो रहा है। जिस समय उपयोग में "यह मैं शुद्ध आत्मा हूँ" ऐसा लक्ष्य होगा, तब विचार करेगा "अरी कषाय तुम क्यों आती हो, तुम मेरा रूप नहीं हो," ऐसा विचार कर वह धीरे-धीरे कषायों को दूर करेगा। जो कषाय की वृद्धि में कारण पड़ते हैं ऐसे साधनों का त्याग करेगा तथा जो कषाय क्षय में कारण पड़ते हैं उन बाह्य साधनों को अपनाकर, धीरे-धीरे स्थूल कषायों का क्षय करने में सफल हो सकेगा। तब उसका उपयोग भी उसके लक्ष्य के साथ-साथ कषाय से रहित शुद्ध अनुभव में आने लगेगा। वास्तव में उसी समय उसको स्वरूपाचरण चारित्र कहेंगे। उस अवस्था का नाम अप्रमत्त अवस्था अर्थात् सातवां गुण स्थान होगा। इसी प्रकार अन्त में वह पूर्णत्व लाभ करेगा।

वस्तु क्या ?

अहो अनेकान्त की महिमा, जिसकी व्यापक एवं सौम्य मूर्ति के समक्ष विरोधी भी साम्य भाव को प्राप्त होते हैं। जिसकी शरण में सभी पितावत् आश्रय प्राप्त करते हैं, जो सबको एक दृष्टि से देखता है और जिसको सब एक दृष्टि से देखते हैं। वही तो विश्व का सर्वोपरि दृष्टा एवं सर्वज्ञ है, जहां पर सभी विरोधी शक्तियां भी अविरोध रूप से रहती हैं।

लौकिक व्यवहार में तो हम एक ही वस्तु में विरोधी शक्तियों को बतायें तो आप तुरन्त उसको यथायोग्य रूप से समझ जाते हैं, परन्तु यहां परमार्थ अर्थात् अदृष्ट आत्म पदार्थ के विषय में यदि मैं विरोधी शक्तियों का निरूपण करूं तो वहां आपको संशय एवं विरोध होने लगता है। देखिये यदि मैं कहूं कि अग्नि उष्ण भी है, प्रकाशक भी है, दाहक भी है, पाचक भी है तथा शीतल भी है, तो आप तुरन्त समझ जाते हैं कि सेक करते समय अग्नि उष्ण है, पढ़ते समय प्रकाशक है, मकानों को जलाते समय दाहक है, भोजन पकाते समय यह पाचक है तथा जले को सेकने के पश्चात् वही शीतलता प्रदायक भी है। परन्तु यदि मैं कहूं कि आत्मा बालक भी है, बूढ़ा भी है, युवा भी है, देव भी है, नारकी भी है, आत्मा मरती भी है और जीती भी है तो तब इनको सुनकर विरोध होने लगता है क्योंकि हमारी दृष्टि अभी वस्तु के पूर्ण स्वरूप को पढ़ नहीं पाई है।

अब देखिये ! वस्तु के अनुरूप चित्र बनाने के लिये हमें पहले उसकी समस्त शक्तियों को पढ़ना होगा, अन्यथा हम उसके अनुरूप चित्र न बना सकेंगे। वस्तु में सामान्य रूप से अनन्त शक्तियां पाई जाती हैं, उसमें कुछ उसकी त्रिकाली शक्तियां हैं और कुछ क्षणिक। यद्यपि त्रिकाली शक्तियां भी अनन्त हैं, परन्तु वे सब बताई जानी तो असम्भव हैं। उसमें कुछ मात्र का परिचय कराया जायेगा। वे

त्रिकाली शक्तियां भी सामान्य विशेष रूप से दो प्रकार की होती हैं। सामान्य शक्तियां वस्तु की सिद्धि मात्र करती हैं जबकि विशेष शक्तियां उन वस्तुओं की जाति निर्धारित करती हैं। सामान्य शक्तियों का परिचय पहले कराया जाता है।

प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसी शक्ति है जिसके कारण वस्तु सदा बनी रहती है, उसका नाश नहीं हो पाता। उस शक्ति का नाम सत् है। इससे जितने संसार में द्रव्य हैं उतने के उतने बने रहेंगे। न तो कोई नया उत्पन्न होगा और न किसी पुराने का नाश होगा। इसी के कारण वस्तु को सत् कहते हैं। दूसरी वस्तुत्व शक्ति के कारण वह सत् द्रव्य अपनी सीमा में रहता हुआ कोई न कोई प्रयोजन-भूत कार्य करता रहता है। तीसरी द्रव्यत्व शक्ति के कारण वह कार्य निरन्तर बिना एक क्षण विश्राम लिये बराबर होता रहता है अर्थात् द्रव्य निरन्तर परिवर्तन करता रहता है। चौथी अगुरुलघुत्व शक्ति की सामर्थ्य से द्रव्य की सम्पूर्ण शक्तियां उसमें बनी रहती हैं। उसकी शक्ति निकलकर दूसरे द्रव्य में नहीं जाती, न दूसरे की उसमें आ सकती है तथा उस द्रव्य की अपनी शक्तियां भी परस्पर मिलकर एक नहीं हो जातीं अर्थात् आम में रस व गन्ध मिलकर एक गन्ध बन जाती हो ऐसा भी नहीं हो सकता। पांचवीं शक्ति के निमित्त से वह द्रव्य किसी न किसी के ज्ञान का विषय अवश्य बनेगा। कोई कहे कि वस्तु तो है परन्तु उसको कोई भी जानता नहीं, ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती। छटी शक्ति के निमित्त से वस्तु का कोई न कोई आकार अवश्य होगा। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व व प्रमेयत्व नामक सामान्य शक्तियां हैं जिनके कारण वस्तु की वस्तुता सिद्ध होती है। यदि इनमें से एक भी निकाल दें तो वस्तु सिद्ध ही न होगी।

संसार में सामान्य रूप से दो पदार्थ देखे जाते हैं जड़ व चेतन। उपरोक्त छहों शक्तियां दोनों में पाई जाती हैं। अब त्रिकाली विशेष शक्तियां बताती हूं। चेतन की विशेष शक्तियां अगले

प्रकरण में आयेंगी। यहां दृष्टान्त रूप से समझाने के लिये केवल जड़ की संक्षेप में विशेष शक्तियां बताती हूँ। जड़ में भी विशेष शक्तियां यद्यपि अनन्त हैं परन्तु संक्षेप में चार मुख्य बताई जाती हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण। एक आम नाम का पदार्थ लीजिये उसमें कोई न कोई स्पर्श है अर्थात् जो स्पर्शन इन्द्रिय से छूकर देखा जाये ऐसी शक्ति है भले वह कठोर, नर्म, हल्का, भारी, कैसा भी क्यों न हो, परन्तु एक स्पर्श सामान्य हर अवस्था में रहता है। इसी प्रकार जिह्वा इन्द्रिय से चखा जाने योग्य खट्टा, मीठा कोई न कोई रस अवश्य रहता है तथा घ्राण इन्द्रिय से जानी जाने योग्य कोई न कोई गन्ध अवश्य रहती है, व नेत्र इन्द्रिय से जाना जाने योग्य हरा या पीला कोई न कोई रंग अवश्य रहता है। छहों सामान्य तथा चारों ये विशेष शक्तियों को गुण कहा जाता है। इसके समूह का नाम ही आम नामक द्रव्य कहलाता है। ये गुण वस्तु के अन्दर बोरी में गेहूंवत् भरे नहीं रहते अपितु सारे के सारे गुण वस्तु के सम्पूर्ण अंगों में तिलों में तेलवत् व्याप्त कर रहते हैं।

यदि वस्तु इन त्रिकाली अंगों से ही युक्त होती तो विश्व को समझना बहुत सरल था, उसका एक चित्र तुरन्त तैयार हो जाता। परन्तु हम तो विश्व में इसके अतिरिक्त कुछ और भी देख रहे हैं। वह यह कि प्रत्येक वस्तु बदल रही है अर्थात् त्रिकाली शक्ति के अतिरिक्त वस्तु में कुछ परिवर्तनशील अंग भी हैं जिसके कारण यहां कुछ भी स्थायी दिखाई नहीं देता, उनका नाम है पर्याय। प्रत्येक वह त्रिकाली शक्ति सत् रहते भी बदल रही है, जैसे आमका रंग, रंग रहते हुए भी हरे से पीला, तथा पीले से काला हो रहा है। उसमें हरा, पीला व काला पर्याय है और इस एक गुण की पर्याय को गुणपर्याय कहते हैं। गुण कभी भोग में नहीं आया करता पर्याय ही भोग में आया करती है। परन्तु यदि गुण न हो तो पर्याय किसके आधार पर टिकेगी। इसी प्रकार यदि गुण बदल गया तो द्रव्य भी बदल गया अर्थात् आम का हरा रंग बदल गया तो आम ही तो बदल गया। यदि आम के समस्त

गुण बदल गये तो सारा आम बदल गया। उन समस्त गुणों की बदली हुई अवस्था को द्रव्य पर्याय कहेंगे।

प्रत्येक गुण निरन्तर बदल रहा है। परन्तु उसका परिवर्तन स्थूल हो जाने पर ही दृष्टि का विषय बना करता है, जिस प्रकार आम खट्टे से मीठा हो गया। क्या एक दम हो गया ? नहीं। पहले समय में कुछ मीठा हुआ तब हमको दिखाई नहीं दिया फिर कुछ मीठा हुआ तब भी हमको दिखाई नहीं दिया। परन्तु जब बहुत मीठा हो गया तब हमको मीठा दिखाई दिया अर्थात् जो सूक्ष्म एक क्षण की पर्याय हमको दिखती नहीं, उसको अर्थ पर्याय कहते हैं परन्तु बहुत पर्यायों का संग्रह होकर जब विसदृश एवं स्थूल हो जाती है तब वह हमारी दृष्टि का विषय बनती है उसको व्यंजन अर्थात् व्यक्त पर्याय भी कहते हैं। अथवा प्रदेशत्व गुण की पर्याय को व्यंजन पर्याय और शेष गुणों की पर्यायों को अर्थ पर्याय कहते हैं। ये दोनों ही पर्याय शुद्ध व अशुद्ध दोनों प्रकार की होती हैं।

इस प्रकार त्रिकाली व क्षणिक अर्थात् गुण व पर्याय के समूह का नाम द्रव्य है। इसके अतिरिक्त जो भी वस्तु है उसका दो प्रकार का रूप होता है—द्रव्यात्मक व भावात्मक। द्रव्यात्मक अर्थात् वस्तु का आकार अर्थात् कुछ लम्बाई व चौड़ाई। इसी को द्रव्य व क्षेत्र भी कहते हैं। अर्थात् वस्तु है ऐसा जिसे कहा जाय उसको द्रव्य कहते हैं। जो वस्तु है उसकी कुछ न कुछ सीमा अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई है उसको क्षेत्र कहते हैं। क्षेत्र को प्रदेश भी कहते हैं क्योंकि क्षेत्र के यूनिट का नाम प्रदेश है। भावात्मक रूप भी दो प्रकार का होता है—काल व भाव। काल वस्तु की पर्याय अर्थात् उसके समय को कहते हैं तथा भाव उसमें शक्ति की डिग्रियों को कहते हैं। जैसे आम एक द्रव्य है, उसका आकार उसका क्षेत्र है, उसकी खट्टी मीठी अवस्थाओं का संग्रह उसका काल है तथा उसके खट्टे व मीठे अंश उसके भाव हैं। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में लगा लेने चाहियें।

इस क्रम से वस्तु की शक्तियों को बताकर अब आइये हम वस्तु का चित्र बनावें। आम द्रव्य को ही लें। छोटा आकार,

कठोर स्पर्श, खट्टा रस, भीनी गन्ध तथा गहरे हरे वर्ण से युक्त पहले समय का आम। कुछ बड़ा-कुछ कम कठोर स्पर्श, कुछ कम खट्टा रस, कुछ-भीनी गन्ध, तथा कम हरे रंग से युक्त दूसरे समय का आम। बड़ा-नरम स्पर्श, कुछ मीठा रस, कुछ मीठी गन्ध तथा कुछ पीले रंग से युक्त तीसरे समय का आम। बड़ा व नरम स्पर्श, मीठा रस, मीठी सुगन्ध तथा पीले रंग से युक्त चतुर्थ समय का आम। इस प्रकार से यहां केवल चार समय के आम का फोटो बनाया है। इसी प्रकार भूत-भविष्यत के अनन्तों फोटो बनाये जा सकते हैं। और फिर भी द्रव्य आम ही कहलाता है। यदि कोई आम की प्रथम अवस्था को जानकर यह कहे कि मैंने आम को जान लिया तो उसका ज्ञान अधूरा होगा, अपूर्ण होगा। इसी से उसको मिथ्या कहेंगे क्योंकि आम तो सब फोटुओं में अनुस्यूत एक द्रव्य है। जिस प्रकार एक एक माला में धागा अनुस्यूत है उसी प्रकार आम नामक धागे में ये सब अवस्थायें पिरोयी हुई हैं।

लीजिये इसी प्रकार आप अपने जीवन की रील को। जिस प्रकार आपकी पूर्व की नारकी, कीट, पतंग, घोड़ा, शेर, चीता, बैल, कुत्ता, मकौड़ा, चींटी, हाथी, मोर, मनुष्य, देव, शिशु, बालक, किशोर, युवा आदि अवस्थायें तथा अब प्रौढ़ अवस्था और भविष्य की देव, मनुष्य व सिद्ध आदि अवस्थायें आप में अनुस्यूत हैं। यद्यपि आप में तो ये सब अवस्थायें क्रम से आयेंगी परन्तु ज्ञान में तो सब अवस्थायें युगपत आ सकती हैं। बताइये तो सही यदि आप वर्तमान अवस्था को ही जानकर यह कहें कि मैंने आत्मा को जान लिया, तो क्या सत्य होगा? यह तो एक फोटो है और नियम से विनष्ट होगा इसके पश्चात् फिर दूसरा फोटो आयेगा, तब आपको शोक व दुःख होगा। परन्तु यदि आप पूरी रील को देख रहे हैं तो दूसरे फोटो के आने पर आपको दुःख न होकर प्रसन्नता ही रहेगी। अतः दृष्टि को व्यापक कीजिये यही तो ज्ञानी व अज्ञानी में अन्तर है। अज्ञानी सृष्टि के उत्पत्ति व विनाश में हर्ष व शोक करता है जबकि ज्ञानी को सृष्टि की उत्पत्ति व विनाश आनन्द देने वाला होता है क्योंकि उसकी दृष्टि उस सत् पर है जो सब

अवस्थाओं में रहता है। परिवर्तन को सृष्टि का स्वभाव समझकर वह सदा प्रसन्न रहता है। अज्ञानी किसी एक अवस्था को पकड़ना चाहता है परन्तु सिनेमा के पर्दे पर से गहरे चित्रवत् वह अवस्था पकड़ में आती नहीं। इस कारण वह रोता है परन्तु ज्ञानी अर्थात् व्यापक दृष्टि वाला उसमें मात्र उस प्रकाश को पकड़ता है जो सब चित्रों को प्रकाशित कर रहा है, इससे वह किसी चित्र को पकड़ने का व्यर्थ प्रयास नहीं करता।

हे भव्य ! इस प्रकार वस्तु के स्वरूप को पढ़कर व्यापक दृष्टि बना जिससे आज की समस्त चिन्ता व द्वन्द भागकर परम सुख प्राप्त होगा। संसार भी मानो तेरे लिये परम धाम होगा।

मेरी शक्ति

आज उस तत्व की वात चलनी है जिसको मुख्य रूप से जानना अभिप्रेत है जिसको जाने विना हम अज्ञानी वने अनादि से चतुर्गति रूप भवजल में गोते खा रहे हैं। जिस तत्व स्वरूप हम स्वयं हैं अर्थात् आत्म द्रव्य की शक्तियों का यहां परिचय कराया जायेगा।

इससे पहले प्रत्येक पदार्थ का द्रव्यात्मक व भावात्मक रूप से दो प्रकार का रूप वताया। उसका द्रव्यात्मक रूप द्रव्य का आकारादि कहलाता है और भावात्मक रूप उसकी अन्य शक्तियाँ कहलाती हैं। यद्यपि प्रत्येक द्रव्य के दो रूप होते हैं परन्तु जड़ द्रव्य में द्रव्यात्मकता की मुख्यता है जवकि आत्मा में भावात्मकपने की। आत्मा का भी द्रव्यात्मक रूप होता है शरीर प्रमाण, परन्तु उसमें ज्ञान रूप भावात्मक शक्तियों की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त यह पदार्थ अदृष्ट होने से भी कथन करने में जटिल पड़ जाता है। परन्तु फिर भी प्रयास किया जाता है।

जो दृष्ट अर्थात् स्थूल पदार्थ है उसको तो वाह्य दृष्टान्त देकर वताया जा सकता है, उसका आकारादि भी खेंचा जा सकता है। परन्तु भाव रूप होने से आत्मा की शक्तियों का अनुभव एवं विचारणा के द्वारा ही उसको अनुमान का विषय वनाया जा सकेगा। देखिये जिन शक्तियों के सद्भाव से शरीर जानता है, महसूस करता है, वेदन करता है, उन शक्तियों से समन्वित उस महाशक्ति का नाम आत्मा है। उस आत्मा की शक्तियां एक रसात्मक रूप से हैं, उसको क्रम क्रम से वर्णन किया जायेगा। उसको केवल शब्दों में ही मत याद करना अथवा चित्र वनाने का प्रयत्न मत करना अपितु उसको भीतर में महसूस करके अनुभव करने का प्रयत्न करना। देखिये यदि मैं पानक को ही वताने लगू ं तो कैसे वताऊंगी ? पृथक-पृथक जल, मीठा, वादाम, मिर्च, वीज, पुष्प आदि का स्वाद भिन्न रूप से क्रम पूर्वक वताते हुए तथा उसका स्वाद दृष्टि में

दिलाते हुए पानक के स्वाद के निकट ले जाऊंगी। यहां पर पानक के स्वाद पर लक्ष्य होगा। पानक का कोई आकार नहीं होगा। इसी प्रकार आत्मा की शक्तियों को भी पृथक-पृथक बताया जायेगा अतः उसको भी अन्दर में महसूस करके खोजना चाहिये।

आत्मा में भी सर्व द्रव्य की भांति अनन्त शक्तियां हैं परन्तु चार प्रमुख हैं—ज्ञान, चारित्र, श्रद्धा व वेदन। इन चारों में भी ज्ञान की प्रधानता है। चारित्र आदि भी ज्ञान रूप से ही अनुभव में आते हैं फिर भी विशेष सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर शेष तीन भी देखे जा सकते हैं। पहले ज्ञान की शक्ति का परिचय दिया जाता है। जो इन्द्रियों के द्वारा जानना, तथा अन्दर में नाना प्रकार की शेखचिल्ली वत् कल्पनायें करना, दूसरे द्रव्यों की त्रिकाली कुछ पर्यायों को जानना, दूसरे के मन में तिष्ठें पदार्थ को जानना तथा समस्त विश्व को युगपत प्रत्यक्ष जानना। ये ज्ञान की पांच अवस्थायें होती हैं जिनको आगम में क्रम से मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यय व केवल कहा जाता है। इसी को अन्य दर्शनकार इन्द्रिय, योगज व पूर्णज्ञान कहते हैं। ये पांचों ही ज्ञान की अवस्थायें वा शक्तियां हैं। इनमें ज्ञान सामान्य ही गुण व शक्ति रूप से अनुस्यूत है।

दूसरा गुण चारित्र नाम का है जिससे संकल्प विकल्प, राग द्वेष अर्थात् क्रोधादि रूप भाव होते हैं अथवा वीतरागता रूप प्रवृत्ति होती है। ज्ञान में जो यह पदार्थ आम ही है सन्तरा नहीं ऐसा विश्वास होता है, तथा आत्मा ही हूं शरीर नहीं, ऐसी जो दृढ़ता होती है उसको श्रद्धा गुण कहा जाता है, जिस शक्ति के निमित्त से महसूस होता है उसको वेंदना नाम का गुण कहा जाता है जैसे आम को जानकर "यह आम है" ज्ञान का यह रूप ज्ञान कहा जाता है। यह आम मेरा है, अच्छा है ज्ञान का ही यह रूप चारित्र कहलाता है। "यह आम ही है अन्य वस्तु नहीं," ज्ञानका यह रूप श्रद्धा कहा जाता है। "आह! यह आम कितना मधुर है," ऐसा कह कर चटखारे लेना, ज्ञान का यह रूप वेदन कहा जाता है। ये चारों गुण अशुद्ध शुद्ध व शुद्धाशुद्ध तीन प्रकार के होते हैं।

अब देखिये क्रम से चारों गुणों की शुद्धता-अशुद्धता का विवरण। ज्ञान की अशुद्धता विकृति अर्थात् विपरीत रूप नहीं हुआ करती। ज्ञान कभी आम को सन्तरा जानता हो ऐसा नहीं होता। ज्ञान की अशुद्धता ज्ञान की कमी रूप हुआ करती है। एक बच्चे में ज्ञान कम है, आप में अधिक है। एक अनपढ़ में ज्ञान का विकास कम है और एक पण्डित में ज्ञान का विकास अधिक है और भगवान में ज्ञान का पूर्ण विकास है। ऐसा नहीं हो सकता कि किसी जीव में ज्ञान का सर्वथा अभाव हो। यदि ऐसा हो जाये तो जीव ज्ञान के अभाव में जड़ बन बैठे। अतः ज्ञान पूर्ण अशुद्ध कभी नहीं होता। थोड़ा प्रगट अवश्य रहता है भले ही एक शब्द का अनन्तवां भाग भी क्यों न हो। थोड़ा प्रगट होना ज्ञान की शुद्धि है और कुछ का अप्रगट रहना ज्ञान की अशुद्धि है इसी को शुद्धाशुद्ध भाव कहते हैं। पूर्ण ज्ञान की प्रगटता ज्ञान की पूर्ण शुद्धि कही जाती है। चारित्र गुण की अशुद्धि विकृति रूप है अर्थात् राग द्वेष रूप परिणति वीतराग परिणति से बिलकुल विपरीत है। क्रोध से मान और मान से लोभादि रूप निरन्तर कषाय रूप परिणति चारित्र की पूर्ण अशुद्धि है और कभी-कभी कषायों से ऊबकर कुछ किञ्चित क्षमा मार्दवता आदि रूप परिणति जैसे "अरे चल जाने भी दे, कह लेने दे इसको जो कुछ कहना है, मेरे कुछ लगा नहीं रहेगा।" ऐसा कह कर कुछ क्षमा भाव धारण करना चारित्र की कुछ शुद्ध व कुछ अशुद्ध रूप परिणति है। पूर्ण कषायों का अभाव होकर निर्विकल्प स्थिति होना चारित्र की पूर्ण शुद्धि है। इसके अतिरिक्त चारित्र में क्षणिक पूर्ण शुद्धि रूप अवस्था भी होती है, जैसे दृष्टान्त रूप से मन्दिर में आने पर भगवान के सामने कुछ क्षण के लिये समस्त विकल्प भाग जाते हैं और घर जाने पर फिर वही विकल्प प्रारम्भ हो जाते हैं। ऐसा ज्ञान में नहीं होता कि एक क्षण को पूर्ण ज्ञान हो जाये अर्थात् सर्वज्ञ बन जाये और फिर उसका अभाव हो जाये इसको उपशम भाव कहते हैं। तीसरा गुण श्रद्धा है। "शरीर ही मैं हूं, धन आदि संग्रह करने में ही मेरा हित है" ऐसा विश्वास श्रद्धा गुण की पूर्ण अशुद्धि है। कभी-कभी उपदेशादि

श्रवण करके भीतर में अपने को शरीर से भिन्न सा महसूस करना इसकी शुद्धाशुद्ध अवस्था है। क्षण भर के लिये सामायिक आदि में बैठने पर "मैं यह आत्मा हूं" ऐसा विश्वास होना, यह क्षणिक पूर्ण शुद्धता है तथा सदा के लिये मेरा हित तो अपनी इस आनन्द रूप स्थिति को प्राप्त करने में है ऐसा विश्वास श्रद्धा की पूर्ण शुद्धि है। शारीरिक व बाह्य पदार्थों के आधार पर रागादि रूप वेदन सो वेदना गुण की पूर्ण अशुद्धता है। कभी कभी लौकिक कार्यों से पृथक होकर शान्ति का वेदन करना शुद्धाशुद्ध अवस्था है तथा पूर्ण आत्म-सुख का वेदन करना पूर्ण शुद्धता है।

अशुद्ध, शुद्धाशुद्ध, क्षणिक शुद्ध, पूर्ण शुद्ध इन्हीं भावों को आगम में क्रम से औदयिक, क्षायोपशमिक, उपशम तथा क्षायिक कहा है। ये सभी भाव कर्मों के उदय, क्षय व दबने आदि की अपेक्षा को लिये होने से अशुद्ध कहे जाते हैं तथा चारों भाव त्रिकाली न होने से क्षणिक कहे जाते हैं। इनमें यद्यपि औदयिक क्षायोपशमिक तथा उपशम भाव को तो क्षणिक व अशुद्ध मानने में कुछ अड़चन नहीं पड़ती। परन्तु क्षायिक भाव में शंका होती है। क्षायिक भाव भी कर्मों के नाश से तथा अब प्रगट हुआ है इसलिये वह भी क्षणिक व अशुद्ध है। जिस प्रकार तीन व्यक्ति हैं। एक तो जेल में पड़ा है, एक जेल से छूटकर आया है और एक जेल गया ही नहीं। जो जेल में है वह तो कैद में है ही। जो छूटकर आया है उससे पूछें, "भैय्या! तुम कब छूटे हो?" तो वह कहेगा "कल छूटा हूं" अतः भले वह अब कैद में नहीं है परन्तु उस पर कैद में जाने व छटने की उपाधि अवश्य है। परन्तु जो जेल में गया ही नहीं उससे पूछें तुम कब छूटे हो? यह शब्द सुनकर वह लड़ने को तैयार हो जायेगा। अतः इसी प्रकार कर्म से छूटने की उपाधि होने से क्षायिक भाव भी अशुद्ध है।

इन चार भावों के अतिरिक्त कर्म के उदय आदि की अपेक्षा से निरपेक्ष जेल में नहीं जाने वाले व्यक्तिवत् त्रिकाली शुद्ध व पूर्ण रूप में प्रकाशमान पंचम भाव है, उसको पारिणामिक भाव कहते

है। यह कभी अशुद्ध नहीं होता। यह समस्त जीवों में अर्थात् क्या कीट व पतंग, क्या सिद्ध भगवान सभी में समान रूप से रहता है। इसी को लक्ष्य में रखकर कहा जाता है कि निगोद भी सिद्ध है मैं भी मुक्त हूं। भैय्या! भाव के लक्ष्य को समझना अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। यहां एक दृष्टि विशेष को लक्ष्य में लेकर कहा जा रहा है न कि अवस्था को। वह भाव कोई गुण व पर्याय नहीं है। इसी से उसको समझना जरा कठिन पड़ेगा। वह भाववाचक संज्ञा रूप है।

देखिये मैं कहूं यह सोना खरा है या खोटा, छोटे आकार का या बड़े आकार का, थोड़ा है या अधिक? तो आप उत्तर देंगे खरा है पासे के आकार का है, १० तोले है आदि। परन्तु मैं पूछूं कि बताइये तो सही कि इसमें सोनेपने का क्या आकार है वह खरा है या खोटा, थोड़ा है या अधिक? आप स्वयं ही उत्तर देंगे कि सोने पने का न कोई आकार होता है न यह कभी खोटा होता है, न वह थोड़ा व अधिक होता है। वह तो सोने की एक कणिका में वा पासे में, खोटे व खरे में सबमें एक समान तथा सदा शुद्ध रहता है। इसी प्रकार लीजिये आत्म द्रव्य पर। निगोद व हाथी में, मनुष्य व सिद्ध में ज्ञान की शक्ति में तो हीनाधिकता होने से अन्तर है परन्तु ज्ञानपने में कोई अन्तर नहीं है। वह तो सबमें समान शुद्ध रूप में प्रकाशमान है, यह भाव द्रव्य गुण पर्याय सबमें घटित होता है। जैसे जीवपना ज्ञानपना, मतिज्ञानपना। इन थोड़े से शब्दों में इसे समझाने का प्रयत्न किया। वास्तव में तो लेखनी से उसका परिचय दिया जाना अत्यन्त कठिन है।

इस प्रकार इन भावात्मक गुणों की पर्यायों के अतिरिक्त जीव की द्रव्य अर्थात् प्रदेशों के आकार रूप पर्याय भी जाननीय हैं। मुक्त जीव तो शरीर से रहित है उनकी तो अन्तिम शरीर से कुछ न्यून उसके आकार की द्रव्य पर्याय होती है। संसारी जीवों की नाना प्रकार के शरीरों के आकार रूप द्रव्य पर्याय होती है। जैसे स्थावर जीवों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति रूप दो-तीन-

चार इन्द्रिय रूप क्रम से लट, चींटी व मच्छर आदि रूप, पंचेन्द्रिय की हाथी, शेर आदि तिर्यञ्च, मनुष्य, देव व नारकी आदि रूप नाना प्रकार की होती है। यद्यपि जीव प्रदेशों रूप से तो समस्त लोक में फैल जायें ऐसे असंख्यात प्रदेशों वाला होता है परन्तु संकोचविस्तार की शक्ति विशेष होने के कारण यह छोटे-बड़े शरीरों में समा जाता है। जैसे दीपक को यदि बड़े वा छोटे घड़े में रखो तो उतने में उसका प्रकाश फैल जाता है। परन्तु जिस प्रकार बड़े घड़े में दीपक का प्रकाश धीमा होकर फैलता है तथा छोटे में तेज होकर फैलता है, उसी प्रकार आत्मा का चींटी के शरीर में आने पर अधिक ज्ञान तथा हाथी के शरीर से आने पर कम ज्ञान ऐसा नहीं होता क्योंकि यहां पर दीपक का दृष्टान्त उसके प्रदेशों को लक्ष्य में लेकर दिया है। जानना प्रदेशों से नहीं होता अपितु ज्ञान भाव से होता है और वह ज्ञान के विकास की अपेक्षा रखता है। चींटी में ज्ञान का विकास कम है और हाथी में अधिक जबकि प्रदेश दोनों के बरावर।

अब द्रव्य वा भाव दोनों रूपों को लेकर आत्म-द्रव्य का तदनुरूप चित्र बनाया जा सकता है। ज्ञान चारित्र-श्रद्धा व वेदना की क्रम से पूर्ण अशुद्धता, कुछ शुद्ध व अशुद्धता व पूर्ण शुद्धता तथा द्रव्य पर्याय तिर्यञ्च, नारक, देव व मनुष्य को साथ लेकर फिल्म तैयार कर लीजिये। इसमें पहली सारी अज्ञानावस्था औदयिक भाव को दर्शा रही है। अब वैरागी अवस्था क्षायोपशमिक को प्रगट कर रही है, अर्हन्त अवस्था क्षायिक भाव का प्रतिनिधित्व कर रही है और सिद्ध अवस्था क्षायिक भाव को प्रगट कर रही है और जीवत्व एवं चेतनत्व प्रकाश सर्व अवस्था में जो प्रकाशमान हो रहा है, वह पारिणामिक भाव को अभिव्यक्त करता है।

———

विविध दृष्टिकोण

जिन्होंने समस्त विश्व को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देख लिया है वे मेरे भी हृदय में वह दिव्य प्रकाश प्रदान करें जिससे मैं भी अपने रूप को अनन्त शक्तियों से सम्पन्न प्रकट देखकर आनन्दमय स्थिति को प्राप्त होऊं।

वस्तु सामान्य व आत्मा का सामान्य परिचय दे देने के पश्चात् अव वस्तु के एक अंग रूप नय का संज्ञाकरण किया जाता है। वस्तु का परिचय देते समय वताया कि वस्तु में दो अंश होते हैं त्रिकाली व क्षणिक अर्थात् गुण व पर्याय। अनेकों वस्तुओं में रहने वाली एकता को सामान्य कहते हैं जैसे अनेकों, काली, पीली, भारतीय, व्राजील की गायों में रहने वाला गोत्व तिर्यग सामान्य कहलाता है तथा एकता में होने वाली अनेकता को तिर्यग विशेष कहा जाता है जैसे यह खण्डी गाय है यह काली है आदि तथा एक ही द्रव्य में उसकी अनेकों आगे पीछे होने वाली पर्याय में अनुस्यूत एक मनुष्यत्व को उर्ध्वता सामान्य कहते हैं तथा एक द्रव्य की आगे पीछे होने वाली क्रमिक शक्तियों को उर्ध्वता विशेष कहते हैं। जैसे मनुष्यत्व में रहने वाली वाल ,युवा व वृद्धता।

श्रोता की योग्यता देखकर किसी समय वस्तु का कोई अंग मुख्य करके कहा जाता है तथा किसी समय कोई अंग। जिस समय जो अंग कहा जाता है वक्ता के हृदय में उसका विरोधी दूसरा अंग भी होता है परन्तु प्रयोजन वश उस समय विशेष .पर उसकी गौणता होती है। जैसे मैं कहूँ कि 'अग्नि प्रकाशक है'। यह वाक्य सुनकर आपकी दृष्टि तुरन्त दीपक पर चली जाती है। चूल्हे की अग्नि पर क्यों नहीं जाती ? क्या चूल्हे की अग्नि में प्रकाश नहीं है ? है, परन्तु पढ़ते समय उसके प्रकाशक गुण की मुख्यता है। परन्तु रोटी पकाते समय उसके पाचक गुण की मुख्यता है। उस समय यद्यपि अग्नि में प्रकाश भी है परन्तु प्रयोजनवश उसके पाचक गुण की

महिमा गाई जाती है। इसमें हम कहीं भी भूल अथवा संशय नहीं करते। कहीं शब्दों पर से प्रयोजन की मुख्यता से विपरीत अर्थ भी लिया जाता है। जैसे मैं किसी खिलाड़ी बच्चे को सम्बोधन करके कहूँ कि "बैठ जा घर में, कल से स्कूल मत जाना।" इस पर से वह मेरे अभिप्राय को तुरन्त समझ जाता है कि स्कूल जाने को नहीं रोका जा रहा अपितु खेलने को मना किया जा रहा है तथा स्कूल नित्य जाकर मन लगा कर पढ़ने को कहा जा रहा है। इसी प्रकार परमार्थ में भी जो यह कहता है कि "मैं तो पापी हूँ मुझ जैसे क्या कर सकते हैं ?" उसको कहा जायेगा कि 'अरे अंजन से पापी व भील जैसे हिंसक भी पार हो गये, तुम्हारा तो क्या है ?' और जो कुछ त्याग आदि करके अभिमान करने लगे तो उसको कहा जाता है कि 'अरे ! अभी क्या है अभी तो मंजिल बहुत दूर है। भगवान की पूर्ण विराग रूप अवस्था को देख ! वैसा बनना है।' इसी प्रकार कोई केवल पढ़कर विद्वान बन जाये तो उसको कहा जायेगा कि 'चारित्र धारण करो, केवल सूक्ष्म तत्व की बातें बनाने में क्या रखा है ? ११ अंग के पाठी भी रह गये तो क्या है।' और जो केवल बाह्य क्रिया काण्ड व तपश्चरण करके अपने को धर्मात्मा समझे तो उसको कहा जाता है कि "शरीर सुखाने में धर्म नहीं है, तू स्वयं अनेकों बार मुनि बना। द्रव्य लिंगी मुनि नवग्रैवेयक तक हो आया, आखिर रहा तो संसार ही में। अतः कुछ तत्व ज्ञान प्राप्त कर।' इस प्रकार वहां पर उसको सुनकर कहीं भ्रम न हो जाये; इसी से उस अभिप्राय को समझना अवश्य है। उस अभिप्राय का नाम ही नय व दृष्टि कहा गया है। और विभिन्न-विभिन्न अभिप्रायों व नयों का संज्ञाकरण कर दिया गया है। वैसे तो प्रत्येक शब्द ही किसी न किसी वस्तु व अभिप्राय को वाच्य बनाने के कारण नय है। कहा भी है—'यावंता वचनपंथा तावंता नयाः।' परन्तु फिर भी मुख्य-मुख्य नय बताई जाती हैं जिससे उस प्रसंग विशेष पर बताते समय किसी बात को सुनकर उसका अभिप्राय अर्थात् दृष्टिकोण केवल उस नय का संकेत मात्र कर देने से, समझ सकें। अभ्यास हो जाने पर नय के शब्द प्रयोग

की आवश्यकता न रहेगी, क्योंकि आप स्वयं ही प्रत्येक वाक्य का दृष्टिकोण समझ जायेंगे।

पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञानात्मक, शब्दात्मक व अर्थात्मक। ज्ञान में जो पदार्थ का अखण्ड रूप पड़ा है, उसको भोगा नहीं जा सकता। वह ज्ञानात्मक पदार्थ है। जैसे आम के अनुरूप जो ज्ञान है उसको ज्ञानात्मक आम कहा जाता है। यह जो मैंने पेपर पर 'आम' शब्द लिख दिया, यह शब्दात्मक आम है। इसको भी खाया नहीं जा सकता। तीसरा टोकरी में रखा जो आम है, जिसको खाया जा सकता है उसको अर्थात्मक आम कहते हैं। इस प्रकार पदार्थ तीन प्रकार के होने से ज्ञान भी तीन प्रकार का हो जाता है—ज्ञानात्मक, शब्दात्मक व अर्थात्मक। ज्ञान दो भेद रूप है प्रमाण व नय। अतः ये तीनों प्रकार का ज्ञान भी प्रमाण व नय रूप होगा। अर्थात् ज्ञानात्मक प्रमाण अखण्ड पदार्थ का प्रतिबिम्ब शब्दात्मक प्रमाण अखण्ड पदार्थ को विषय करने वाला शब्द समूह अर्थात् सच्छास्त्र। अर्थात्मक प्रमाण वह पदार्थ। अखण्ड पदार्थ के ज्ञान में से एक अंग को मुख्य करना ज्ञानात्मक नय, ज्ञान में से वस्तु के एक अंग को मुख्य करके कहे जाने वाले वचन शब्द नय तथा वस्तु में एक अंग को मुख्य करना अर्थ नय कहलाती हैं। अब ज्ञानात्मक पदार्थ तो सत् व असत् दोनों प्रकार के होते हैं। क्योंकि ज्ञान वस्तु से बड़ा है। वह असत् की कल्पना भी कर सकता है। जैसे वन्ध्या पुत्र अथवा आकाश पुष्प तथा रात्रि को ज्ञान की कल्पना के द्वारा ही हम स्वप्न में ऐसे पदार्थ देखते हैं जिसको जगने पर संसार में खोजने जावें तो मिल नहीं सकते। परन्तु अर्थात्मक पदार्थों में सत् पदार्थ ही संगृहीत होते हैं। शब्दात्मक पदार्थ उससे भी अल्प होते हैं क्योंकि शब्द संख्यात मात्र है जबकि अनन्त शक्तियों से युक्त पदार्थ अनन्त। उनमें से कुछ पदार्थ तथा उनकी कुछ शक्तियां शब्दों द्वारा वाच्य बनाई जा सकती हैं। इस प्रकार ज्ञान, अर्थ व शब्द उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्म हैं।

आगम में नयों के भेद दो प्रकार से दिये गए हैं। एक वस्तु स्वरूप को जानने की अपेक्षा से दूसरे ग्रहण त्याग की अपेक्षा से।

पहले प्रकार को आगम पद्धति कहा जाता है दूसरी को अध्यात्म पद्धति। आगम पद्धति में पहले नयों के दो मूल भेद किये गये हैं द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक। सामान्य व द्रव्य को जो विषय करे सो द्रव्यार्थिक तथा जो विशेष व पर्याय को विषय करे सो पर्यायार्थिक कही जाती है। जैसे जीव कहने पर नर, नारक आदि पर्यायों से निरपेक्ष केवल सामान्य जीव द्रव्य का ग्रहण होता है। यह शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि है तथा बाल, युवा व वृद्धत्व आदि अवस्थाओं से युक्त ही मनुष्य है ऐसा विकल्प रूप अभेद ग्रहण अशुद्ध द्रव्यार्थिक है। पर्यायार्थिक दृष्टि में पर्याय की मुख्यता है द्रव्य की नहीं। जैसे मनुष्य, मनुष्य ही है, तिर्यञ्च, तिर्यञ्च ही। मनुष्य व तिर्यञ्च से जीव एक अनुस्यूत है ऐसा यह नहीं मानती अपितु इस नय से पर्याय ही स्वयं द्रव्य है। इस प्रकार ये दोनों द्रव्य, क्षेत्र व भाव में भी लागू की जा सकती हैं।

आगम पद्धति की अपेक्षा शास्त्र में नयों के सात भेद किये गये हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। नैगम नय सत् व असत् दोनों ग्रहण करती है, इसलिये यह मानव अर्थ नय है। इसलिये ज्ञान की अपेक्षा इसको संकल्पग्राही कहते हैं तथा अर्थ नय की अपेक्षा यह एक ग्रहण न करके दो को ग्रहण करती है। अर्थात् संग्रह नय के विषयभूत अभेद को तथा व्यवहार के विषयभूत भेद को भी मुख्य-गौण करके ग्रहण करती है। संग्रह नय अर्थात्मक ही है वह अनेकों में अनुगत सामान्य को ही ग्रहण करता है और व्यवहार उसी एक में भेद करके अनेकों भेदों रूप मानता है। जैसे 'सत् है' यह संग्रह नय कहलाता है। सत् दो प्रकार का है—जीव व जड़। यह व्यवहार है। संग्रह नय अभेद को ग्रहण करने से शुद्ध द्रव्यार्थिक है और व्यवहार नय भेद ग्राहक होने से अशुद्ध द्रव्यार्थिक है। ऋजुसूत्र नय भी अर्थनय है, परन्तु सर्वथा विशेषग्राही है। यह पदार्थ की एक सूक्ष्म पर्याय मात्र को पूर्ण द्रव्य रूप से ग्रहण करती है अतः पर्यायार्थिक है। जैसे बाल अवस्था युक्त जीव को बाल द्रव्य मानना। आगे की तीनों नयें शब्द नय हैं शब्द स्वयं पर्याय है इसलिये इसे पर्यायार्थिक नय भी कहा जाता है। ये नय पदार्थ को

विषय न करके वाच्यभूत पदार्थ के विषय में तर्क वितर्क करती है। शब्द नय अपने विषयभूत पुल्लिग पदार्थ को नपुंसक वा स्त्रीलिंगी तथा भिन्न काल वा संख्यावाची शब्दों का प्रयोग नहीं करती अर्थात् यह स्त्री के लिये दार इस नपुंसक लिंगी शब्द का प्रयोग नहीं करती जबकि ऋजुसूत्र नय की दृष्टि में एक ही वाच्यार्थ था। यह स्त्री के लिये स्त्री लिंगी ही अनेकों शब्दों का वाचक बना लेती है। इससे आगे समभिरूढ़ नय एक पदार्थ को शब्द नय की भांति अनेकों नाम देना भी उचित नहीं समझती। यह तो प्रत्येक शब्द का भिन्न अर्थ मानती है। इतनी बात है यह जो भी शब्द पदार्थ के लिये रूढ़ कर देती है उसे हर अवस्था में सर्वथा रूप से प्रयुक्त करती है जैसे कि पूजा करता हो वा राज करता है अथवा युद्ध करता हो, सभी अवस्थाओं में 'इन्द्र' इन्द्र ही है। एवं भूत इससे भी आगे चलकर सूक्ष्म से सूक्ष्म दोष को दूर करता है वह एक पदार्थ को भी भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न नाम देता है। जैसे पूजा करते समय इन्द्र पुजारी है, भोग भोगते समय 'इन्द्र' है, युद्ध करते समय पुरन्दर है इस प्रकार इन सातों नयों का विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म है।

इन सातों नयों की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता नीचे वाले दृष्टान्त पर से देखी जा सकती है। १. पापी लोगों का समागम करते हुये मनुष्य नैगमनय की दृष्टि से नारकी है। २. जब प्राणिवध का विचार करके सामग्री संग्रह करता है तब संग्रह नय से नारकी है। ३. जब हाथ में धनुष लेकर मृगों की खोज में फिरता है तब व्यवहार नय से नारकी है। ४. जब प्राणों का आघात करता है तब ऋजुसूत्र नय से नारकी है। ५. जब जन्तु प्राणों से वियुक्त कर दिया जाये तब शब्द नय से नारकी है। ६. जब नारक कर्म का बन्धक होकर नरक कर्म से संयुक्त हो जायें तब समभिरूढ नय से नारकी है और जब नरक में यंत्रणा भोग रहा हो तब एवंभूत नय से नारकी है। इस प्रकार यह संक्षेप में आगम नयों का परिचय दिया।

अब अध्यात्म नयों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। आगम पद्धति से तो केवल वस्तु स्वरूप का परिचयमात्र कराया गया परन्तु

वस्तु स्वरूप को जान लेने मात्र से काम नहीं चलता अपितु ग्रहण क्या करना चाहिये और क्या त्याग ? जीव क्या है ? ज्ञान ही तो परमावश्यक है। वस्तु के सारे अंग यथास्थान सत्य हैं कोई भी असत्य नहीं, परन्तु आचरण अर्थात चारित्र ही शान्ति व अशान्ति का कारण है। इसलिये अध्यात्म-पद्धति में कराई जाने वाली हेयोपदेय बुद्धि ज्ञान की सत्यार्थता व असत्यार्थता बताने के लिये नहीं है परन्तु चारित्र की सत्यार्थता व असमीचीनता बताने को है क्योंकि ग्रहण-त्याग ज्ञान में नहीं चारित्र में होता है। चारित्र दो प्रकार का है—अन्तरंग व बहिरंग। अंतरंग चारित्र विचारणायें जो ज्ञान में पड़े ज्ञान के आधार पर उठा करती हैं अर्थात् ज्ञानलब्ध है और विचारणा उपयोग रूप। ज्ञान अशान्तिदायक नहीं अपितु विचारणा अशान्ति-दायक है। जैसे युद्ध का रूप आपके ज्ञान में पड़ा परन्तु उससे कोई हानि नहीं। परन्तु 'यदि युद्ध हो गया तो' इस प्रकार की विचारणा दुःखदायक है। इसी अन्तरंग विचारणा का त्याग तथा शान्ति सम्बन्धी विचारणाओं का करना ही अन्तरंग चारित्र है और अशान्ति सम्बन्धी विचारणाओं में निमित्तभूत पदार्थों का त्याग तथा शान्ति सम्बन्धी विचारणाओं में कारणभूत बाह्य पदार्थों का संग्रह करना ही बाह्य चारित्र कहलाता है। इनमें अन्तरंग चारित्र प्रधान है। अन्तरंग वैराग्य के साथ धारा गया चारित्र ही कार्यकारी है। वैराग्य का आधार विचारणाओं का आधार ज्ञान है। कारण में कार्य का उपचार करके ज्ञान के उन अंगों को ही रागोत्पादक व रागप्रशासक कह दिया है। वास्तव में ज्ञान के अंग तो राग उत्पादक हैं न प्रशासक। बस उन अंगों को ही अध्यात्म पद्धति में व्यवहार व निश्चय नय कहा है। निश्चय व व्यवहार कोई स्वतन्त्र नयें नहीं हैं अपितु वही संग्रह नय ही यहां निश्चय है और वहां वाली व्यवहार ही यहां व्यवहार है। अद्वैत द्रव्य को विषय करने के कारण निश्चय की विचारणा निर्विकल्प है। अर्थात् उस विचारणा के अतिरिक्त वहां अन्य विकल्प नहीं। अखण्डित अद्वैत द्रव्य को खण्डित व द्वैत रूप से ग्रहण करने के कारण व्यवहार नय की विचारणा विकल्प व चञ्चलता रूप है अतः इस नय में अच्छे बुरे व मेरे तेरे की कल्पनाओं का प्रवेश

स्वतः हो जाता है। वहाँ भी शुद्धता अशुद्धता थी वस्तु की त्रिकाली अनेकता व अनेकता तथा यहां शुद्धता व अशुद्धता का अर्थ है शुद्ध व अशुद्ध पर्याय अर्थात् औदयिक, क्षायोपशमिक आदि भाव रूप पर्याय। वस्तु में द्वैत भी दो ढंग से देखा जाता है—गुण-गुणी व पर्याय-पर्यायी रूप से तथा दो पृथक द्रव्यों का बाहर में कुछ सम्बन्ध देखकर लक्ष्य-लक्षण वा कर्ता कार्य रूप से अद्वैतता स्थापित करना। अध्यात्म नयों का विवरण संलग्न चार्ट से भली भांति समझा जा सकता है:—

— ——
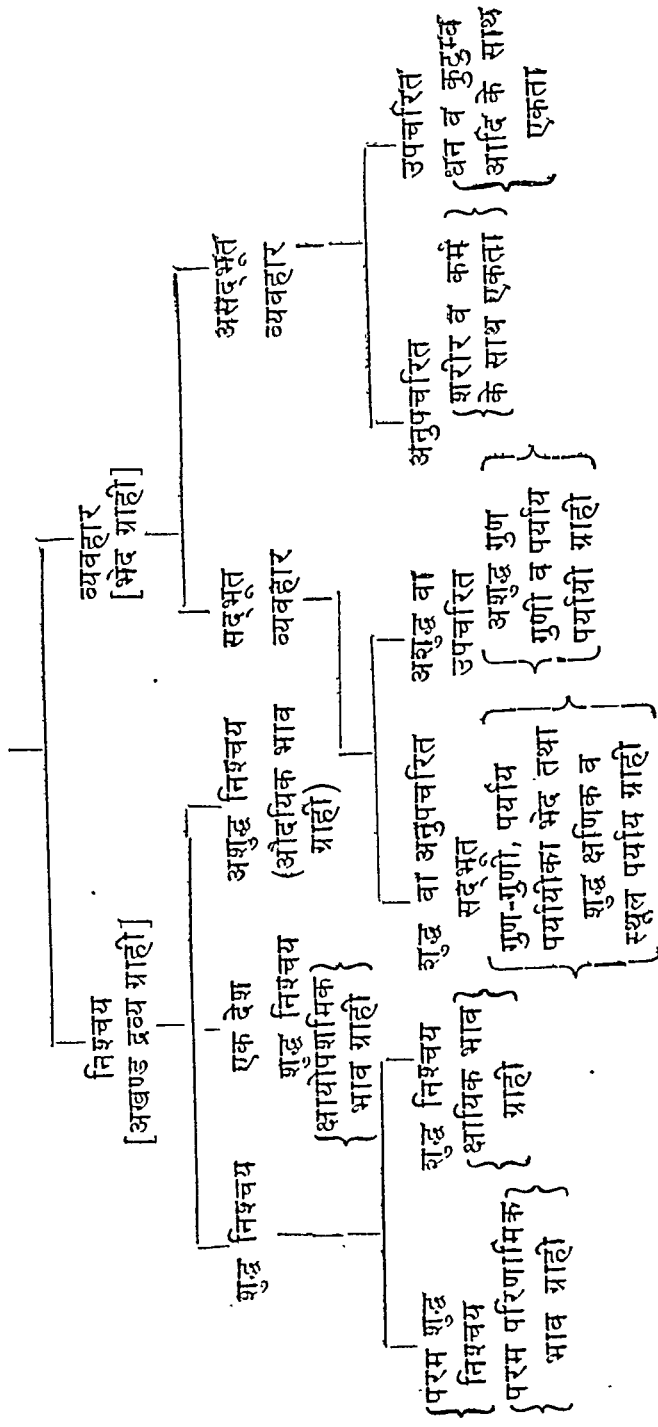
इस प्रकार सामान्य रूप से इस चार्ट में अध्यात्म नयों का परिचय दिया गया। अब तक मूल नयें बताईं।
इसके अतिरिक्त आगम में अनेकों नयों का वर्णन मिलता है।

सच्चा ज्ञान

आत्म दर्शन हो जाने के पश्चात् "जो मैंने यह अनुभव किया है यही मैं हूँ" जब ऐसा दृढ़ श्रद्धान हो जाता है उसी को सम्यक् श्रद्धा कहते हैं। तब ही "मैं शरीर रूप नहीं हूँ, तथा शरीर का हित मेरा हित नहीं तथा शरीर का सुख मेरा सुख नहीं', ऐसा विश्वास हो जाता है। इसी से उसके ज्ञान व पुरुषार्थ की दिशा विपरीत हो जाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि तब वह रस्सी को सर्प व सर्प को रस्सी जानने लगता हो और घर में लाने की बजाय उसको फैंकने लग जाता हो। अपितु तात्पर्य यह है कि वह अब अपने को भूलकर अपना इष्टानिष्ट वा अपनी आत्मा नहीं मानता। अपितु उसके सुख-दुःख की वा शत्रु-मित्र की कसौटी उसकी आंतरिक शांति हो जाती है। चाहे रस्सी हो वा सर्प परन्तु है तो मुझ से भिन्न उसका विश्वास हो जाता है। इसी से उसका ज्ञान भी सम्यक् कहा जाता है। वास्तव में तो पहले ही बताया गया है कि ज्ञान कभी सम्यक् वा मिथ्या नहीं होता। परन्तु मिथ्या वा सम्यक् श्रद्धा के कारण ज्ञान को भी सम्यक् वा मिथ्या कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जिनको अपने मित्र व कुटुम्बी समझकर देखा करता था उन सबको अपने से भिन्न देखता है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि वह अपनी माता को "मेरी मां" ऐसा नहीं कहता है तथा उससे प्रेम व उसकी सेवा न करता हो। प्रेम भी करता है, सेवा भी करता है। हो सकता है कि वह साधारण जीवों की अपेक्षा भी अधिक प्रेम में पागल हुआ फिरता हो। परन्तु फिर भी उसके हृदय का विश्वास अपने से भिन्न ही समझता है। यही भेद ज्ञान की विचित्र महिमा है। यह हृदय का सूक्ष्म भाव है इसको वही जानता है दूसरा नहीं। यह क्रिया पर से नहीं भाव पर से जाना जाता है। इसको दूसरा नहीं जानता, केवल वही जानता है इसलिये इसको शब्दों में कहा जाना अशक्य है।

देखिये इस दृष्टान्त पर से उस ज्ञान की समीचीनता व असमीचीनता का भाव दर्शाने का प्रयत्न करती हूँ। एक बच्चा है वह सर्प को हाथ लगा रहा है उसके साथ खूब खेल रहा है। देखकर मैं कहती हूँ "बेटा! इसको हाथ नहीं लगाया करते, यह सर्प है, काट लेता है, इससे शरीर में विष चढ़ जाता है, बेहोश हो जाता है, अन्त में मृत्यु हो जाती है। देखना इसको हाथ मत लगाना।" इतना सुनकर बच्चा समझ जाता है। परन्तु अगले दिन फिर सर्प के साथ खेल रहा है तब मैंने कहा "बेटा! तुझे कल बताया था। तुझे सर्प का ज्ञान हुआ कि नहीं?" तब वह उत्तर देता है—'हां! मुझे सब याद है। आप सुन लीजिये। यह सर्प होता है, काट लेता है आदि।' परन्तु बेटा! तू हाथ क्यों लगा रहा है? "अच्छा जो लगता है।" बताइये क्या उसका ज्ञान सत्य है? वह जान तो सर्प ही रहा है रस्सी नहीं। देखिये यहां वस्तु स्वरूप के ज्ञान का प्रकरण नहीं अपितु हेयोपादेय पूर्वक के ज्ञान का प्रसंग है। जब वह वास्तव में समझ जाये कि 'यह सर्प है' तब वह उसको हाथ ही नहीं लगायेगा। तब ही उसने वास्तव में सर्प जाना है ऐसा कहा जायेगा। इसी प्रकार "इतने अंगों आदि वाली आत्मा ऐसी होती है और विषय भोग त्याज्य है" आज का ऐसा ज्ञान सम्यक् नहीं कहा जायेगा। वास्तव में जिस दिन आत्म दर्शन हो जायेगा, तभी उससे पूर्व का सर्व ज्ञान भी सम्यक् ज्ञान कहलाने लगेगा। इसी से दंसण मूलो धम्मो कहा है। तब उसे पूर्ण रूप नहीं परन्तु आंशिक निवृत्ति होगी। यह उस सम्यक् ज्ञान की स्थूल पहिचान है। इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि यहां मोक्ष मार्ग का प्रकरण है अतः यहां पर अन्य विषयों के लौकिक ज्ञान का प्रसंग नहीं। अपने अपने स्थान पर वे सभी सम्यक् हैं। परन्तु मोक्षमार्ग में सहकारी न होने से वे भी यहां मिथ्या कहे जाते हैं।

आज हमको भी सभी तत्वों से युक्त आत्मा का ज्ञान है परन्तु शाब्दिक होने से सम्यक् नहीं। परन्तु जब अपने वाच्य को स्पर्श करलें तब वही शब्द सच्चे हो जावेंगे। यह ज्ञान सर्वथा व्यर्थ भी नहीं है क्योंकि इसके अभाव में सच्चा अनुभव कैसे कर सकता है?

सुख की खोज

सम्यक् श्रद्धान व ज्ञान हो जाने के पश्चात् साधक के पुरुषार्थ की दिशा बदल जाती है। कहा भी—"प्रत्येति श्रद्धाति स्पृशति मतिमान यः सः वैशुद्ध दृष्टि।" अर्थात् प्रतीति होने पर श्रद्धान होता है पश्चात् वह उस तत्व को स्पृशति अर्थात् जैसा देख रहा है वैसा ही अवस्था से भी शुद्ध बनाने का प्रयत्न करता है। उसी का नाम चारित्र है। अब उसकी रुचि बदल जाती है। पहले जिन लौकिक विलास में आनन्द लेता था आज उसको भोगते भी हृदय में बैठी श्रद्धा उसको उनमें रुचि या आनन्द नहीं लेने देती। जिस प्रकार आज आपको धन कमाने की रुचि पड़ी है। खाते, नहाते, सोते, जागते दुकान पर, घर पर, सफर में, मित्र मंडली में अथवा शास्त्र सभा में बैठे भी आपको धन कमाने की रुचि है। इसी प्रकार उसकी रुचि व्यापार करते, भोग भोगते अथवा कुछ भी करते हो अन्तरंग उसी शान्ति प्राप्ति को है। आज वह सब कार्य करता है परन्तु उसको उनमें आनन्द व रस नहीं आता है। यही बड़ा अन्तर पड़ गया उसमें। वही श्रद्धा अन्तरंग में बैठी चुटकियें मारा करती है कि "अरे! कहां पड़ा, तू हट यहां से। इस कषाय करने में क्या रखा है। तू उसी मधुर रूप को देख।" तत्क्षण ऐसा विचार बरतने से वह बराबर से वातावरण से हटता जाता है। इसी को चारित्र की भूमि में प्रवेश कहा जाता है। इसको सम्यग्दृष्टि का निन्दन ग्रहण रूप चारित्र कहते हैं जो चारित्र रूप वृक्ष का बीज है।

"गृहस्थी में सब कुछ करना पड़ता है और मुझे विषय नहीं लगते परन्तु क्या करूं फिर भी क्रोध आ जाता है" ऐसा जो कहता है वह स्वरूप से दूर है क्योंकि वह अपने दोष को पुष्ट करता है। विवेकवान अपने दोष पर यूं कहकर धूल नहीं डालता। वह तो कहता है "हे भगवान! मैं पापी हूँ, ये मेरे बहुत अपराध हो रहे हैं।" इस प्रकार निरन्तर छोड़ने का प्रयत्न करता है तथा आंशिक रूप से

छोड़ता जा रहा होता है उसी की रुचि सम्यक् है। यद्यपि इस वाक्य में भाव को प्रकाशित करने का उपक्रम किया। वास्तव में उसके भाव तो वही जानता है शब्दों में कहा नहीं जा सकता।

देखियें एक व्यक्ति शराब पीता है। मैं कहूं भैय्या ! शराब बड़ी खराब होती है, इससे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, धन का अपव्यय होता है, अतः शराब न पिया करो। परन्तु मेरे कहने पर वह क्यों छोड़े ? नहीं छोड़ता। यदि हठ पूर्वक त्याग भी करवा दें तो कल को ग्रहण कर लेगा। परन्तु बहुत समझाने पर स्वतः ही कारण घटना विशेषों से बुद्धि में आ जाये कि शराब नहीं पीनी चाहिये तो अगले दिन उसका शराब पीने को मन नहीं करेगा। परन्तु हुड़क उठेगी। उसी से प्रेरित होकर वह पियेगा परन्तु उसकी आसक्ति न होगी और अन्तिम एक घूंट अवश्य छूट जायेगी। रोज ऐसा करते करते अन्त में शराब सर्वथा छूट जाये। यहां तक कि आज वह शराब की दुकान के आगे से नाक सिकोड़ कर निकलेगा। इसी प्रकार लीजिये आपका एक मुनीम है वह बड़ा ईमानदार है। इसी से आपका विश्वासपात्र है, आपने अपना सब व्यापार उसी पर छोड़ रक्खा है। आपको वह अपने पुत्र से अधिक प्रिय है। परन्तु कदाचित किसी घटना विशेष से आपने देख लिया कि यह कुछ चोरी करता है ! तो आप उसको एक दम जवाब नहीं देंगे, और नाहिं उससे कटु व्यवहार करेंगे। परन्तु फिर भी अब वह आपका प्रेमपात्र न रहा। आप वैसे का वैसा रहकर भी बदल गया है। इसी को कहते हैं अभिप्राय। आपका अभिप्राय बदल जाने से क्रिया वैसे रहते भी एक दिन बदल जायेगी।

इसी प्रकार दृष्टि बदल जाने पर उस ज्ञाता का अभिप्राय बदल जाता है। अब वह विषय भोगता है, क्योंकि एक दम छोड़ने में असमर्थ है। परन्तु अभिप्राय बदल जाने से उससे एक दिन धीरे-धीरे क्रम से शक्ति की वृद्धि करते करते ये अवश्य छूट जायेंगे। इसी से कहा कि दृष्टि वा लक्ष्य एक दम बन जाता है परन्तु चारित्र क्रम

से होता है। मुझे डाक्टर बनना है। ऐसा लक्ष्य तो एक दम बन सकता है परन्तु डाक्टर बनकर आने में तो बहुत समय लगेगा।

इस प्रकार श्रद्धा, रुचि व अभिप्राय संक्षेप से कथन कर देने के पश्चात् वह अपने लक्ष्य की ओर प्रगति करने में बाह्य के किन-किन साधनों को अपनाता है तथा किनका त्याग करता है, यह आगे के प्रकरणों में बताया जायेगा। इसी को बाह्य चारित्र कहते हैं। परन्तु जो साथ-साथ भीतर में कषाय व विकल्पों का अभाव करता जाता है उसको अन्तरंग चारित्र कहते हैं। ये दोनों साथ-साथ चलते हैं तभी चारित्र नाम पाते हैं।

सुख अहिंसा में है

सभी प्राणी स्वभाव से प्रेम-प्रिय हैं। कीट से मनुष्य पर्यन्त तक क्या चींटी, क्या हाथी, क्या शेर, क्या देव व क्या मनुष्य जन्म से प्रकृति की ओर से ही प्रेममय मधुर स्वभाव को लिये हुए होते हैं। जन्मते ही बालक माता को प्रेमभरी दृष्टि से अवलोकित कर उसके स्तन की ओर दौड़ता है। माता भी जब बच्चे को प्रेम से निहारती है तो उसका चित्त भी स्नेहार्द्र हो जाता है। दोनों के प्रेम का सम्बन्ध होने पर माता के स्तन में दूध की धारा रूप अमृत प्रगट हो जाता है जिसको पीकर बालक इस जीवन सूत्र की दीर्घता रूप अमरता एवं आनन्द प्राप्त करता है तथा माता उनको सीने से लगाकर अपूर्व आनन्द का अनुभव किया करती है। बस इसी स्वभाव से प्रत्येक प्राणी उसी प्रेम अमृत से लालायित हुआ यत्र-तत्र जगत में फिर रहा है। जब-जब प्रकृति के राज्य में इस प्रेम की धारा मिलती है तब-तब ही वह अपने को आनन्दित समझता है।

यह प्रेम मानव में ही नहीं जड़ जगत् में भी व्याप्त है। जड़ का प्रेम अज्ञान रूप होने से दृष्टिगत नहीं होता। परन्तु होता अवश्य है। देखिये जड़ में होने वाली स्निग्धता ही उसका प्रेम है। यदि जड़ परमाणु में स्निग्धता न हो तो उसका बन्धान होकर इस स्थूल जगत का निर्माण असम्भव है। सूर्य, चन्द्र, तारे, ग्रह, उपग्रह तथा यह पृथ्वी प्रेम रूपी स्निग्ध व आकर्षण शक्तियों के कारण ही अपनी समस्त विभूति सहित अपनी-अपनी सीमा में इस अनन्ताकाश में घूम रहे हैं। यदि कदाचित वह अपनी स्निग्ध शक्ति रूप प्रेम को छोड़ दे और अपनी सीमा का उल्लंघन कर दे तो समस्त ग्रहों के कण-कण बिखर जायें अथवा सब एक दूसरे से टकरा जायें तब प्रलय हो जाये, सर्व शून्य में विलीन होकर अपनी सत्ता खो बैठें।

देखिये एक शेर भी अपने बच्चों से प्यार करता है। स्वभाव तो जीवमात्र का एक ही है भले वह किसी भी योनि में अथवा कैसे भी

शरीर को क्यों न धारण करे। प्राचीन काल में जबकि शेर मानव के पास कुत्तों की भांति फिरा करते थे वह भी प्रकृति की ओर से सहज प्राप्त वनस्पति का आहार ही ग्रहण करते थे। कभी मनुष्य को देखकर गुर्राने की वात तो बहुत दूर की है अपितु उसको प्यार की दृष्टि से निहारते थे। तब प्रकृति की स्वभाव सिद्ध गोद में प्रेम स्वभाव का अनुसरण करते मधुर क्रीड़ा करते थे तब कितना आनन्द था? वहीं तो अहिंसा थी।

परन्तु ज्यों ही मानव में स्वार्थ आया, उसने प्रकृति की वस्तुओं को संग्रह करके प्रकृति के राज्य का सन्तुलन भंग किया। उसने उस प्रकृति के बच्चे को भूखा रखकर अपना कोष भरना चाहा। तब मानव के हृदय में प्रेम के स्थान पर द्वेष, त्याग के स्थान पर संग्रह रूप हिंसा प्रगट हो गई। मानव के चित्त की शान्ति भंग हो गई। अपने स्वभाव का अतिक्रम करके तब मानव-मानव न रह कर राक्षस वन गया। जब उसने उस प्रकृति के वच्चे को कष्ट देना चाहा, तब प्रकृति मानव को कोस रही थी और क्रुद्ध होकर प्रकृति ने बिखरी सम्पत्ति संकोचनी प्रारम्भ कर दी। "भूखा मरता क्या नहीं करता", इस उक्ति के अनुसार उस शेर ने भी पेट रक्षा के लिये गुर्राना शुरू कर दिया। तब से ही मानव उसका शत्रु बन बैठा। तब से ही उसने अपनी आत्म रक्षा के लिए तथा उदरपूर्ति के अर्थ अपने नोकीले नखों का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।

आज शेर मानव का शत्रु है परन्तु स्वभाव से नहीं। आज शेर क्रूर है परन्तु स्वभाव से नहीं। क्रूरता, शत्रुता व भय शेर में नहीं अपितु हमारे अपने हृदय में है। हम उसको क्रूर व शत्रु समझकर भय की दृष्टि से देखते हैं, उसी की प्रतिक्रिया रूप से वह भी हमको इसी दृष्टि से देखता है। आज भी वह हमारा मित्र है और आज भी वह शान्त है। परन्तु हमारे हृदय में स्वार्थ व भय का विच्छेद होकर प्रेम व मित्रता का संचार होना चाहिये। आज भी उसको शान्त देख सकते हैं। देखिये एक वार एक राजा था। उसके यहां सभी गण हिंसक व मांसभक्षी थे। उनमें केवल अधिकारी ऐसा था जो कि सच्चा अहिंसक

था। जहां बहुतायत हुआ करता है वहां वैसी प्रवृत्ति का शासन हुआ करता है ऐसा स्वभाव है। एक अधिकारी ने उस अहिंसक से चिढ़कर राजा को शिकायत कर दी। राजा ने क्रुद्ध होकर उसको शेर को चारा देने के कार्य के लिये नियुक्त कर दिया। अहिंसक समझ गया कि "यह सब षड्यन्त्र मेरी परीक्षा के अर्थ है क्योंकि शेर के भोजन को उसे अवश्य हिंसा करके मांस बनाना होगा" वह केवल दिखावटी अहिंसक नहीं था। उसने प्रभु का स्मरण करके खूब मिठाई व फलों के टोकरे लदवाकर ले जाकर शेर के सामने रख दिये और स्वयं जंगले के बाहर से हाथ जोड़कर कहने लगा "हे बनराज मेरे पास तुम्हारे लिये यही भोजन है, कृपया इसको खाकर अपनी पूर्ति करें।" शेर फलों की तरफ आया परन्तु अपने योग्य भोजन न पाकर क्रुद्ध होकर अधिकारी की तरफ देखने लगा। परन्तु अधिकारी ने मधुर एवं प्रेम-मयी वाणी में उन्हीं शब्दों की पुनः आवृत्ति की और हाथ जोड़े शान्त एवं निर्भय मुद्रा में खड़ा रहा, जैसे कोई अपने मनोनुकूल कार्य कराने को एक बच्चा प्रेम व आशा की दृष्टि से पिता को देखा करता है। शेर ने भी उसके भाव को समझ लिया और अपने मनोनुकूल न मिलने से चुपचाप अपने पिंजरे में चला गया। तीन दिन इसी प्रकार व्यतीत हो गये। शेर भूखा मरने लगा। अहिंसक के हृदय में दया एवं करुणा का रस टपक पड़ा। चतुर्थ दिन फलों व मिठाई के टोकरे रखकर वह स्वयं शेर के समक्ष खड़ा होकर हाथ जोड़कर बड़ी मधुर वाणी में कहने लगा कि "हे वनराज! तुम इन फलों को खाकर अपनी उदर पूर्ति करो, अन्यथा तो लो यह शरीर आज तुम्हारा भक्ष्य है। इसके अतिरिक्त और मेरे पास तुम्हारे लिये भोजन नहीं। मुझे क्षमा करो।" उक्त शब्द कहकर वह चरणों में लेट गया। शेर ने भी अधिकारी की आंखों में सच्चा प्यार, सच्ची मित्रता एवं मानवता देखी। वह भी उसके मस्तक को प्रेम से सूंघकर चुपचाप जाकर मिठाई खाने लगा। इसी प्रकार प्रतिदिन फल खाकर वह शेर भी शाकाहारी बन गया।

अतः तात्पर्य यह है कि सच्ची अहिंसा का अर्थ जीव को न मारना ही नहीं यह तो निषेधार्थक अर्थ है। सच्ची अहिंसा का

अर्थ है जीव मात्र से प्रेम करना। प्रेम में सर्व प्रेममय दीखता है। उसी प्रेममय मधुर वीणा की झंकार को सुनकर ही भक्तों को बनीय पशु घेर लिया करते थे और शान्त भाव से बैठकर भक्ति का आनन्द लिया करते थे। भैय्या! अपने हृदय को पढ़। ज्यों-ज्यों तुझ में स्वार्थ बढ़ता जा रहा हैं त्यों-त्यों तेरे हृदय में इन शेर-सर्प जन्तुओं से तो क्या तुझे मानव से भी भय लगने लगा है। आज तो जिस माता से तेरा शरीर पुष्ट हो रहा है उसके ही मांस को खाने व उसकी खाल के जूते पहनने में तेरा हृदय नहीं कांपता है। उसी माता के शाप से तू दुखी हो रहा है। भैया! स्वार्थ को छोड़ और प्रेम को अपना तभी तू इस शाप से मुक्त होकर पूर्ण सुख प्राप्त कर सकेगा। विटामिन की शक्तियां वनस्पति व दालों में बहुत हैं, अगर मांस से ही शरीर को पुष्ट करना है, तो अपने बच्चों का व तेरा अपना मांस ही तेरे लिये अधिक अनुकूल रहेगा। परन्तु जैसे तेरा हृदय अपने बच्चों को मारते हुए कांपता है वैसा निरीह पशुओं को मारने में भी हृदय क्यों नहीं कांपता रहा है ? क्यों नहीं तू अपनी उस चित की हिंसा को पढ़ रहा है। देख तेरे नाखून भी प्रकृति ने चपटे बनाये हैं जो इस बात के प्रतीक हैं कि तू शाकाहारी है। अतः शाकाहारी बन। जब तेरा खान पान शुद्ध एवं सात्विक होगा तभी तेरा मन भी सात्विक प्रेम से युक्त होगा क्योंकि मांसाहारी के चित में दया नहीं रह सकती जबकि शाकाहारी किसी के शरीर में सुई चुभाने में भी हिचकिचायेगा। अतः अपने प्रकृति प्रदत्त स्वभाव का अनुसरण करके सुख प्राप्त करने में ही सच्ची मानवता है।

———

प्रेम में आनन्द है

आनन्दमय प्रभु ! हम सब के हृदय में भी उस प्रेमानन्द का स्फुरण करें जिससे चिरकाल का सन्ताप शान्त हो जाता है। हे प्रभु ! अब दुखों एवं क्लेशों से त्राण पाने की इच्छा से ही आपकी शरण में आये हैं। अब परम-शान्ति प्रदान कीजिये नाथ !

जीवन नाम आनन्द का है। आज जीवन में से आनन्द व हास्य लुप्त हो चुका है। आज मनुष्य का जीवन मृत्यु के झूले में झूल रहा है। आज मनुष्य के मुख की मुस्कान जाती रही है, आज इसके मन का हर्ष एवं उल्लास काफूर हो गया है, आज मनुष्य जीना न चाह कर मृत्यु का आलिंगन कर लेना चाहता है। नित्य ही इसके मुख से ब्रह्म मुहूर्त में निकलता है "हे प्रभु ! मुझे इस जगत से उठा ले, मैं मर जाऊं तो दुःख से छूट जाऊं। आदि" अरे ! जिस समय प्रभु का स्मरण होता था, जिस समय जीवितव्य के अर्थ प्रार्थना की जाती थी उस समय मरने की इच्छा। अरे ! कलिकाल तेरी ही लीला है यह। इतना दुर्लभ मानव भव पाकर तू इससे छूटना चाहता है। जिस देह की प्राप्ति के लिये देव भी लालायित रहते हैं, जिस देह के अर्थ तपस्यायें की जाती हैं, जिसकी प्राप्ति परम पुण्योदय से होती है, जिस भव से सभी गतियों का मार्ग जाता है, जिस शरीर को पाकर यह बड़े-बड़े हाथियों आदि शक्तिशाली देहों पर भी शासन करता है, जिस भव से ही अमर एवं ब्रह्मस्वरूप बना जाता है उसी अमूल्य रत्न के त्याग की इच्छा ? ओह ! घोर अन्धकार है, अज्ञान है एवं दुःख का विषय है। इसका कारण क्या है ? चलो खोजें।

आज का जीवन इतना अशान्त एवं जटिल हो चुका है कि मनुष्य को बात करने की भी फुर्सत नहीं। आज उसको पेट भर के रोटी खाने का भी समय नहीं। आज अपने बच्चों एवं बीवी के साथ हंसने का भी समय नहीं। आज रात को सोने व मल त्याग के लिये भी समय नहीं।

वहां भी टेलीफोन सेट रहता है। वहां-भी अखबार पढ़े जाते हैं। अरे ! क्या काम आयेगा यह धन जबकि जीवन में आनन्द व भोग नहीं हुआ। धन सुख के लिये ही तो होता है परन्तु तुझे उसका क्या सुख है ? भैय्या ! अपने पूर्वजों के जीवन को देख जो सवेरे प्रभु भजन के पश्चात् शान्ति से भोजनादि करके व्यापार के लिये जाते थे। सूर्यास्त से पूर्व घर लौटकर संध्या आदि करते थे। रात्रि को चौपार में घर के बच्चे, मातायें, बहनें ही नहीं अपितु पड़ौस के सब बैठते थे। सब परस्पर प्रेम से एक दूसरे के दुःख को सुना करते तथा अपनी बात कहकर मन हल्का किया करते थे। हंसते-गाते व खेलते हुए दिन भर की सब थकावट को क्षण मात्र में दूर कर दिया करते थे। रात्रि को वहीं सब सोते थे, जिससे एक विस्तृत परिवार का आनन्द मिला करता था। त्याग भाव के कारण चोरी करने की किसी की प्रवृत्ति होती न थी, यदि कदाचित कोई असुर आ भी जावे तो सारा का सारा वह गिरोह उसका सामना करता था। इससे उनका जीवन सुखी एवं निर्भय रहता था। परन्तु इससे विपरीत आज स्वार्थ व अन्धा हुआ मानव प्रेम का गला घोट चुका है, आज इसी कारण उसको किसी से बात करते भी भय व लज्जा का अनुभव होता है। बड़े-बड़े शहरों में तो जीवन इतना शुष्क हो गया है कि एक पड़ौस में रहने वाले व्यक्ति का दूसरे को पता नहीं होता। भैय्या ! हंसना व मिलना भी मानव का जीवन है. उसका अभाव होने से ही जीवन में मृत्यु का अनुभव करता है। यद्यपि मनोरंजन के लिये आज स्थान-स्थान पर क्लब व सिनेमा हाल खोले गए हैं। अधिकाधिक संख्या में जनता पैसा खर्च करके भी अपने मन व दिमाग के बोझ को हल्का करने के अर्थ जाती है, परन्तु वहां पर भी विलासिता के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगता। सर पर आर्थिक समस्या और आ पड़ती है उससे जीवन हल्का होने की बजाय भारी हो जाता है।

भैय्या ! सच्चा आनन्द तो चेतन के साथ हार्दिक प्यार करने से प्राप्त हो सकता है। परन्तु वहां पर स्वार्थ आड़े आकर वैमनस्य

उत्पन्न कर देता है। स्वार्थ यद्यपि एक छोटा सा शब्द है परन्तु यह समस्त कलह-क्लेश का मूल बीज है जिसकी वट वृक्ष की भांति गहरी जड़ें फैला करती हैं। खानदान के खानदान इसके चंगुल में पड़कर विनष्ट हो जाया करते हैं। देखिये एक समय की बात है दो भाई मिलकर रहा करते थे। उनकी पत्नियां व दो-दो बच्चे भी परस्पर बहन-भाईवत् मिलकर रहते थे। बड़े भाई का नाम था राम और छोटे का श्याम। श्याम बड़े भाई की आज्ञानुसार सारा दुकान का कामकाज आदि करता था। राम स्वयं घर का सामान वगैरह लाने का कार्य करता था। सब को समान चीजें मिलती थीं इसी से किसी के मन में विरोध न होता था। एक दिन राम बाजार से फल लाया। उसको देखकर बच्चे दौड़े-दौड़े आये। श्याम निकट बैठा अखबार पढ़ रहा था। बच्चे फलों के लिये झपटने लगे। चारों बच्चों को दो-दो केले दे दिये गए। अब दोनों हाथों में दो-दो आम थे। दायें हाथ के आम मीठे व कुछ बड़े थे, जबकि बायें हाथ के कुछ सख्त व छोटे। राम के अपने बच्चे बायीं ओर थे श्याम के बच्चे बड़े आम वाले दायें हाथ की तरफ। राम के हृदय में कुछ द्वैत आया, उसने उनको छुपाना चाहा परन्तु छुप न सका। प्रतिक्रिया रूप से उसके हाथ पलट गए, इधर राम के हृदय का प्रभाव श्याम के हृदय पर भी तुरन्त पड़ा और उसकी आंखें सहज ही राम के हाथों की द्वैत क्रिया पर चली गयीं। श्याम से न रहा गया। उसने कहा "भाई साहब क्षमा करना अब मेरी आपकी चल न सकेगी। मुझे आप जैसे कहेंगे उसी प्रकार कर लूंगा।" यद्यपि इन वाक्यों में उसने स्पष्ट कुछ न कहा, लेकिन हृदय ने सब कुछ समझ लिया। तब राम ने भी अपने हृदय को पढ़ा और छोटे भाई से क्षमा मांगने लगा कि "हे भैय्या! यह मेरा पाप छोटा न था। महान पाप था इसको तू मुझे क्षमा कर।" दोनों भाइयों का हृदय भर आया, दोनों गले मिले, इधर दोनों पत्नियें व बच्चे भी यह देखकर रोने लगे और सब ने आंखों के रास्ते अपने हृदय में पड़े मैल को बाहर निकाला तथा क्षमायाचनापूर्वक गले मिलकर मधुर प्रेम की स्थापना की।

भैय्या ! देखिये यदि वे क्षमायाचना नहीं करते तो वह बीज पनपता रहता। एक भाई अपनी बात क्रोधवश किसी दूसरे से कहता, दूसरा भाई किसी और से। घर में क्लेश बढ़ता रहता। मित्रों व सम्बन्धियों का ही बटवारा हो जाता। सब एक दूसरे को भड़काकर दुकान का भी बटवारा करा देते। आखिर दुकान ठप्प हो जाती। व्यापार ठप्प और प्रेम भी ठप्प। यह भी यहीं शान्त नहीं होता, बढ़ते-बढ़ते यही समाज व राष्ट्र की दलबन्दी का रूप धारण करके भयंकर बन बैठता जिससे व्यष्टि व समष्टि दोनों का जीवन संघर्षमय होता अथवा सर्व बध्वंस हो जाता। भैय्या ! कहा भी है 'एकता में बल है।' एक तिनका कुछ भी काम का नहीं। परन्तु जब वही अनेकों के साथ मिल कर रस्सी का रूप धारण कर लेता है तो बड़े-बड़े हाथियों को भी अपने वश में कर लेता है। घर की फूट से लंका का विध्वंस हुआ अन्यथा तीन खण्ड का स्वामी अनेकों विभूतियां जिसकी चरण सेवा करतीं, जिसकी विशाल सेना, ऐसा वह महापराक्रमी रावण क्या दो वनवासियों के द्वारा मारा जा सकता था ? फूट नाश करती है। अतः स्वार्थ का नाश करके प्रेम की स्थापना से संगठन उत्पन्न करें।

देखिये एकत्व को रखने वाली छोटी सी इसराइल जाति ने सभी देशों के छक्के छुड़ा दिये। इसी प्रकार यदि आज हम भी गृह, समाज, धर्म व जातिगत् पक्ष रूप झगड़ों को छोड़कर संगठन व मैत्री की स्थापना करें तो कोई भी विदेशी शक्ति हमारी ओर आंख उठाकर नहीं देख सकती। आज भी देश की शक्ति कम नहीं परन्तु संगठन एवं नैतिकता चाहिये। परन्तु जो धर्म के नाम पर ही झगड़े तो उसका निबटारा कहां हो ? भैय्या ! कोई भी धर्म झगड़ा करने की प्रोत्साहना नहीं देता। झगड़ा मिटाकर एकता की स्थापना ही धर्म है और उसी से जीवन व राष्ट्र की नींव सुदृढ़ होती है।

सर्वत्र धन का बोलबाला है परन्तु भैय्या ! धन में सुख नहीं प्रेम में आनन्द है। प्रेम की वेदी पर धन की बलि दे दी जाती है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं आपको धन त्यागने को कह रही हूं और मेरे कहने से आप छोड़ भी तो नहीं सकते। भैय्या ! मैं तो प्रेम का मधुर अमृत पीने को कह रही हूँ। इसको पीकर अमर हो जाइये, यह अत्यन्त

तृप्तिकर है। यह परमपद देने वाला है। यह प्रभु बना देने वाला है। इसमें दिव्यानन्द है। इसमें सरसता है, इसमें निर्भयता है, इसमें सर्वत्र मैत्री है। प्रेम में कोई भी शत्रु नहीं। धन में शत्रु का भय, धन में स्वार्थ, धन में चिन्ता व तृष्णा होती है। इसी से मनुष्य शंकालु होकर भयातुर रहता है। देखिये एक गरीब शाम को कमाकर लाता है। रात्रि को आनन्द से सोता है, कल की परवाह नहीं परन्तु धन में तृष्णा होने से रात्रि को नींद भी नहीं आती। भैय्या धन में तो स्वास्थ्य भी नहीं। एक दरिद्र का बच्चा मिट्टी में खेल कर, रूखा सूखा खाकर, गर्मी सर्दी को सहन करता यूं ही पल जाता है। फिर भी उसकी हड्डियें मजबूत रहती हैं तथा कभी उसको बुखार नहीं होता। परन्तु एक धनिक बच्चा खूब कपड़ों से लदा रहकर कूलर व हीटर रूप एयरकंडीशन में रहकर मक्खन व टोस्ट खाता हुआ भी पनपने नहीं पाता, सदा अस्वस्थ रहता है। अतः धन से स्वास्थ्य नहीं है।

प्रेम की मधुरता कहां तक कही जावे। पृथ्वी को कागज बनाकर लिखने लगें तो भी कठिन है। इसका अपना विचित्र आनन्द है जोकि धन में नहीं होता। नानक जी का एक भक्त था जिसका नाम था लालो। वह बड़ा दरिद्र था, वह एक तृण कुटीर में रहता था। उसके पास पहनने को दो धोती तथा एक चादर थी, एक टूटी सी खटिया, दो चार मिट्टी के बर्तन के अतिरिक्त कुछ न था। जब कभी नानक जी उस गांव में जाते थे तो उसकी कुटिया को पवित्र करते थे। वह वही टूटी खटिया लाकर चोपार में डाल देता था। भक्ति में उन्मत्त हुआ खाने को छाछ में रूखी ज्वार की रोटी देता था क्योंकि उसके पास तो वही पकवान था। नानक जी भी उसको अति चाव से खाते थे। उसी गांव में उनका 'भागो' नामक धनिक भक्त भी रहता था। भागो बहुत बार नानक जी से अपने मकान पर ठहरने के लिये अनुनय किया करता था परन्तु प्रत्येक बार उसको निराश हो जाना पड़ता। एक बार उसने गुरू जी से अपना भोजन स्वीकार करने की प्रार्थना की। मंजूर होते ही संध्या को वह थाल सजाकर खीर, हलवा, पूड़ी, पापड़ आदि लाया। नानक जी ने उसमें से एक हाथ में पूड़ी उठायी और

दूसरे हाथ में सवेरे की वचाई लालो की रूखी रोटी का एक टुकड़ा। दोनों को लेकर निचोड़ा तो भागो की पूड़ी में से खून की धारा वह निकली और लालो की रूखी रोटी में से दूध की पवित्र धारा क्योंकि धन प्राप्त होने पर दया नहीं रहती, प्रेम नहीं रहता, वहाँ अहंकार व स्वार्थ आ धमकता है, परन्तु दरिद्र के हृदय में सच्चा प्यार होता है। तव खुल गया लालो के घर गुरू जी के ठहरने का रहस्य।

प्रेम रूप अमृत से सींचा गया रूखा अन्न भी आपके शरीर को पुष्ट कर देगा, परन्तु शुष्क हृदय से खाया घी-दूध से बना पकवान भी आपका पेट न भर सकेगा। थोड़ा सा हलवा वनाकर सबको खिलाने के पश्चात् वचा एक ग्रास खाने में आपको आनन्द आ जायेगा, अकेले कटोरा भरके खाने पर भी आपको आनन्द न आ सकेगा, अत: प्रेम में आनन्द है, प्रेम करें। प्रेम करने वाले को प्रेमियों का ही संसर्ग प्राप्त होता है और कलह करने वालों को असुरों की संगति मिलती है। लड़ने वालों को सव लड़ाके दीखते हैं, इसलिये उनके लिये वहीं नरक है। प्रेमियों को सव प्रेमी दीखते हैं अत: उनके लिये यहीं स्वर्ग है। वास्तव में न कोई असुर है न दैव। अपने हृदय का अक्स ही वाहर में दीखा करता है। हम हृदय में प्रेम रखें तो सव हम से प्रेम करेंगे। तव हमें सारी प्रेममय सृष्टि आनन्द प्रदायी होगी। प्रेमी के जीवन से द्वेषी भी अपना द्वेष छोड़कर शान्त हो जायेंगे। जव जीवन का सच्चा आनन्नद प्राप्त होगा, तव ही मृत्यु की इच्छा भाग जायेगी।

इस प्रकार का प्रेम उस सत्य दृष्टा को सर्व सामान्य के प्रति स्वभाविकतया होता है। यह उसके वात्सल्य गुण की रूपरेखा है और धर्मी जीवों के प्रति तो उसका हृदय गद्गद् होकर उमड़ पड़ता है। धर्मात्मा को देखकर उसका रोम-रोम पुलकित हो उठता है, उसके नेत्रों से अश्रुधारा वह जाती है, वह प्रेम में इतना उन्मत्त हो जाता है कि यह सोचता है "कि कहां सर पर विठाऊं वा हृदय में वा आँखों में पी जाऊँ।" क्योंकि वह समझता है कि उसके इस मार्ग पर चलने वाला तो कोई विरला ही है। अत: उस साथी को पाकर उसका हृदय-कमल खिल उठता है। जैसे विदेश में अपने देश का कोई व्यक्ति मिल जाने पर साधारणत: मन में हर्ष हुआ करता है। दु:खी जीवों के प्रति

उसको करुणा होती है और द्वेषी जीवों के प्रति भी उसके मन में तो प्रेम ही रहता है। सदा उनका भी हित विचारता है। अपनी तरफ से कभी उनका अनिष्ट करना तो दूर चिंतवन भी नहीं करता। इसी से ऋषियों के मन में भावना भी उमड़ पड़ी—

सत्वेषु मैत्रीं गुणीषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ भाव विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥

———

मैं दुखी क्यों ?

चैतन्य के अलौकिक आलोक को प्राप्त करके आज मुझे यह जानने की इच्छा हुई है कि मेरा अपराध क्या है, जिसका फल निरन्तर मुझे व्याकुलता के रूप में मिल रहा है। मुझे बन्धन क्या है जिसके कारण मैं संसार में पड़ा जन्म-मरण की वेदनायें भोग रहा हूँ। समस्त अपराधों व भवों को नाश कर देने वाले अक्षयानन्द प्रभो ! मुझे भी शक्ति दो जिससे मैं भी अपने अपराधों को जानकर उनको विनष्ट करके आनन्द-मय पद प्राप्त कर सकूं।

यहां पर अपराध शब्द का अर्थ लौकिक डाका आदि डालने रूप नहीं है। अपितु पारमार्थिक अपराध से प्रयोजन है जो कि मुझ से निरन्तर हो रहा है। वह अपराध बाह्य चक्षुओं से दिखाई नहीं देगा उसके लिये दिव्य चक्षुओं की आवश्यकता है। उसको जैसे करने में मैं स्वतन्त्र हूँ उसी प्रकार यदि रोकना चाहूँ तो स्वतन्त्र रूप से रोका जा सकता है। उसको करने के लिये कोई मुझे प्रेरित नहीं कर रहा है, वल्कि अपनी इच्छा से किया जा रहा है। विलकुल इस बात से अनभिज्ञ होकर कि इसका फल मुझे सुखकर होगा वा अहितकर है। जवकि उसका फल साक्षात अनुभव में आ रहा है। वह अपराध है कि प्रति समय मन-वचन व काय से कोई न कोई क्रिया मुझ से निरन्तर हो रही है। ये क्रियाएं इच्छाओं के आधीन हैं तथा परम्परा इच्छाओं की उत्तेजक होने से मेरे आनन्द की घातक है। ये स्वयं व्याकुलता रूप हैं।

अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट मोटा व गोरा देखकर, सुन्दर वस्त्रों का स्पर्श पाकर, गर्मी में ठण्डी हवा व सर्दी में धूप का स्पर्श पाकर तथा किसी कोमल वस्तु का स्पर्श पाकर कुछ मन में प्रसन्नता होती है। स्वादिष्ट भोजन जिह्वा पर आने पर अच्छा सा लगता है। नाक में गुलाव, सैन्ट व मिठाई की गन्ध आने पर मधुर लगती है, नेत्रों से सुन्दर चित्रों को देखकर, अपने को सुसज्जित देखकर, अपने

कमरे की शोभा देखकर मन खिल उठता है। कानों से किसी का मधुर गान सुनकर अथवा अपनी प्रसन्नता के शब्द सुनकर कान स्वतः उसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। अर्थात् जो विषय अपने को अच्छे लगते हैं उनकी प्राप्ति होने पर उनसे राग होता है तथा उनकी वृद्धि की व पुनः पुनः प्राप्त करने की भावना हुआ करती है। इसी प्रकार कुछ कठोर स्पर्श होने पर, शरीर पर मैल व रक्त व पीव आदि होने पर सर्दी में सर्दी व सर्दी में ठण्डा स्पर्श होने पर कुछ हटने का भाव होता है, जिह्वा पर कुछ तुरई आदि कड़वी आ जाने पर अथवा रूखा स्वाद मिलने पर बुरासा लगता है, एकदम निगल जाने को मन करता है, विष्टा की गन्ध आने पर वहां से हटने का भाव होता है, कुरूप व्यक्ति को देख-कर व कोढ़ी आदि के प्रति कुछ अदेखसका सा भाव होता है तथा अपनी निन्दा के शब्द व गाली आदि सुनकर अनिष्टकर सा लगता है। अर्थात् जो विषय अपने को अनिष्टकर लगते हैं उनके प्रति द्वेष भाव होता है। अतः उनको दूर करने का प्रयत्न रहा करता है। इस प्रकार राग व द्वेष निरन्तर बाह्य विषयों के प्रति होता रहता है। इससे निरन्तर इष्ट पदार्थों के संग्रह व अनिष्ट पदार्थों के वियोग का प्रयत्न चला करता है।

इस प्रकार के राग-द्वेष की परम्परा ही मेरा अपराध है। इसी को आगम में आस्रव कहा जाता है। इसको भाव आस्रव कहते हैं। इसके कारण एक सूक्ष्म कर्म भी मेरे शरीर के साथ एकमेक होकर रह जाता है उसको द्रव्य आस्रव कहते हैं। वैदिक दर्शनकार इसी को क्रम से लिंग शरीर व सूक्ष्म शरीर नाम से कहते हैं। मृत्यु के पश्चात् यह स्थूल शरीर तो यहीं पड़ा रह जाता है वह सूक्ष्म शरीर ही गत्यान्तर को ले जाता है और एक नई स्थूल देह का निर्माण कर देता है। वह बीज है और स्थूल देह वृक्ष। अतः स्थूल देह को काटने व मारने से बीज का नाश न होगा। सूक्ष्म देह बीज रूप है उसका विनाश करने से स्वतः वृक्ष रूप स्थूल देह का अभाव हो जायेगा क्योंकि कारण के अभाव में कार्य कैसे हो सकता है? अतः सूक्ष्म देह का ही नाश करना चाहिये। सूक्ष्म देह का कारण भी लिंग देह व भाव कर्म है उसका नाश करना चाहिये।

अब प्रश्न यह है कि हम तो प्रयत्न करते हैं कि राग-द्वेष न करें परन्तु न मालूम कौन प्रेरणा करता है तब यह हो ही जाते हैं। भैय्या ! जब हम राग-द्वेष करते हैं तब वह एक बार ही होकर रह नहीं जाते अपितु अपनी छाप चित्त पर छोड़ जाते हैं। पुनः-पुनः कर्म होने से वह छाप अधिकाधिक गहरी होती जाती है उसी को संस्कार वा आदत कहते हैं। जिस प्रकार एक बालक जब स्कूल से कलम चुराकर लाया, उस दिन उसको रोका न गया तो अगले दिन दवात, पुस्तक आदि क्रम से चोरी करके लाने लगा। इस प्रकार करते-करते एक दिन बड़ा डाकू बन गया। आज वह चोरी को रोकना भी चाहे तो रुकता नहीं। बस इसी प्रकार हमको भी राग-द्वेष करने की आदत पड़ गई है। इसी को आगम में 'बन्ध' नाम से कहा जाता है। भैय्या और कोई शरीर वा कुटुम्ब का बन्धन नहीं है जो किसी ने मेरे पैरों में बेड़ी डाली हुई हो, अथवा कोई जबरदस्ती मुझे पकड़े बैठा हो। यह हमारे अपने बनाये संस्कार ही हैं जिनके द्वारा कि हम बंधे हुए हैं। अपनी भूल को न समझकर अपने दोष को दूसरों के गले मंढना युक्त नहीं है। इसमें केवल अपना ही नुकसान है। तोता नली को पकड़कर उल्टा लटक जाये और कहने लगे कि मुझे नली ने पकड़ लिया तो यह अज्ञानता नहीं तो क्या है? इसी प्रकार बन्दर छोटे मुंह के कलश में हाथ देकर चनों को लेकर मुट्ठी बंद कर ले। तब बन्दर मुट्ठी बाहर निकाले तो कैसे निकाल सकता है? ऐसी अवस्था में चिल्लाने लगे कि 'हाय कलश ने मुझे पकड़ लिया।' बताइये कलश ने उसको पकड़ा वा उसने कलश को पकड़ा है? अभी चने छोड़ दे तो छुटा हुआ ही है। बस इसी प्रकार बाह्य में राग-द्वेष करके संचित किये संस्कार ही मेरा बंधन हैं। उन्हीं की प्रेरणा से प्रेरित होकर मुझे राग-द्वेष रूप से बाह्य पदार्थों के साथ बंधना पड़ता है। यह परम्परा अनादि से चली आ रही है। ये संस्कार हमने स्वयं ही बनाये हैं अतः इनको तोड़ने में भी हम स्वतन्त्र हैं।

भैया ! विचारिये तो सही कि क्या पदार्थ इष्ट-अनिष्ट है। एक ही पदार्थ मेरे लिये इष्ट और दूसरे के लिये अनिष्ट है। जैसे नीम मेरे लिये अनिष्ट और ऊंट के लिये इष्ट। एक ही पदार्थ अब मेरे लिये

इष्ट और फिर अनिष्ट जैसे भूख के समय रूखी रोटी अच्छी लगती है परन्तु पेट भरने पर अच्छी नहीं लगती। अब मेरा पुत्र अच्छा लगता है, लड़ाई होने पर बुरा। अब बंगला अच्छा लगता है और इष्ट वियोग होने पर बुरा। कोई वस्तु किसी मौसम में अच्छी लगती है और किसी में बुरी। जैसे सर्दी में कोट अच्छा लगता है गर्मी में बुरा। किसी देश में कोई वस्तु अच्छी लगती है किसी देश में बुरी। देहात में पगड़ी अच्छी लगती है नगर में बुरी। सारांश यह है कि वस्तु तो न अच्छी है न बुरी वह तो जैसी है वैसी ही है। परन्तु तेरी कल्पना ही अच्छी व बुरी है। वही तुझे राग-द्वेष रूप से अनुभव में आ रही है। अतः उसका त्याग कर।

जीव पदार्थ का भोक्ता नहीं है अपितु अपने भाव का ही भोक्ता है। अपने को, अपने से, अपने लिये, अपने में से तथा अपने आधार ही स्वयं ही भोक्ता है अर्थात् षट्कारकी रूप से अपृथक् अपने परिणाम का भोक्ता है। षट्कारकी रूप से पर-पदार्थों का न भोक्ता हुआ है न होगा। अतः स्वतन्त्र रूप से अपने परिणामों को रोकने में समर्थ है। अपने स्वभाव का आश्रय ले फिर ये राग-द्वेष अपना रास्ता नापते दिखाई देंगे। यदि अपने आत्म स्वरूप का आनन्द लिया है तो इच्छाओं में घी डालने का प्रयत्न ही रुक जाये। उससे राग-द्वेष समाप्त हो जीवन शान्त हो जाये।

सुख कैसे मिले ?

आज तक हृदय गुहा में निहित उस परम प्रभु के शुभ-दर्शन के विना कहीं भी सुख प्राप्त नहीं किया। दु:ख से पीड़ित होकर विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक समस्त जगत् छान डाला परन्तु कहीं भी प्रकाश की रेखा न आई। एक के पश्चात् दूसरी चौरासी लाख योनियों में जाकर क्रम से समस्त शरीरों को धारण करके भी सुख की रेखा न प्रतीत हुई। संसार के सर्व इन्द्रियों के विषयों को भोग-भोग-कर अनन्त वार उनमें सुख को खोजा परन्तु दु:ख व खेद के अतिरिक्त कुछ भी हाथ न आया। उस सुख की प्राप्ति के अर्थ दे डाला इसे धन, महल, मकान, जेवर, वस्त्र आदि। परन्तु ज्यों-ज्यों यह सव दिया त्यों-त्यों दु:ख वढ़ता रहा। भैय्या पहले अपने रोग को जान लिया होता अथवा यह तो समझ लिया होता कि औषधि दी जाने पर भी रोग शान्त क्यों नहीं हो रहा है ? लौकिक व्यवहार में तो एक औषधि से यदि रोग नहीं जाता तो दूसरी, तीसरी औषधि वदलकर देखता है और उससे भी आराम नहीं होता तो डाक्टर वदल देता है। तब तक वरावर औषधि व डाक्टर वदलता है जव तक रोग में कुछ भी आराम नहीं पड़ता। औषधि भी वही प्रमाणिक मानी जाती है जो कि रोग को मूल से विनष्ट कर दे। वस यही नियम यहां लागू करना चाहिये था। अर्थात् औषधि व डाक्टर वदलकर देखना था। आज तक भोग किये उससे रोग शान्त न हुआ अपितु तृष्णा की ज्वाला रूप से रोग वढ गया अतः यह इसकी सही औषधि नहीं है। परन्तु कोई कहे कि जिस समय भूख लगती है तो अन्न खाने पर शान्ति व सुख मिलता ही है अत: इसमें कुछ सुख तो है ही ? भैय्या ! ठीक है उस समय कुछ काल के लिये सुख सा मिलता है। परन्तु औषधि तो वह होती है जो कि रोग का मूलत: विनाश कर दे। यह तो कुछ काल के लिये इञ्जैक्शन देकर रोग को मूर्छित मात्र कर देने का उपक्रम है। इससे रोग तो जूं का तूं वना रहता है। भैय्या ! रोग का सही प्रतिकार वह है जिससे पुन:

रोग होवे ही ना। आज हम विषय में प्रवृत्त होते हैं तथा आज़ सुख प्राप्त करने को प्रभु की शरण में आये हैं, यह इस बात का प्रतीक है कि अभी तक हम रोगी हैं और हमारे रोग का प्रतिकार नहीं हो सका है।

भैय्या! सुख बाहर में नहीं भीतर में है। जहाँ जो चीज नहीं है वहां ढूंढने से उस वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः जब बाहर में सुख है ही नहीं वह वहां कहां मिल सकता है? मिठाई जिह्वा पर रखी हो अथवा आप एयरकण्डीशन कमरे में सुन्दर शय्या पर बैठे हों तो आपका मन यदि कहीं अन्यत्र है तो आपको उस भोजन व शय्या का आनन्द नहीं आता। बताइये उसमें सुख हुआ होता तो आपको आनन्द आना चाहिये था। फलितार्थ हुआ कि सुख वहां नहीं मन में है। मन में यदि निश्चिन्तता है तो पत्थरों पर पड़े हुए भी आनन्द है। अतः सुख को अन्दर खोजना चाहिये। भीतर भी सुख कुछ रक्खा हुआ नहीं है। सुख स्वरूप मैं स्वयं हूँ, मैं स्वयं आनन्द स्वरूप हूँ, मैं स्वयं प्रभु व भगवान हूँ। लाई तो दूसरी चीज जाती है। परन्तु घी को चिकनाई मांगकर नहीं लानी पड़ती। चिकनाई ही तो घी है। बस आनन्द मेरा स्वभाव है वह मांगकर नहीं लाया जा सकता। अरे! आनन्द स्वरूप ही तो मैं हूँ। अत उस प्रभु के, महात्मा के दर्शनकर जिसके एक क्षण के दर्शन से जन्म जन्म के पातक कट जाते हैं।

उस महात्मा के दर्शन से प्राप्त आनन्द अद्वितीय है। भोजन करके जो तृप्ति होती है, वह क्षणिक अति जघन्य जाति का आनन्द है। कोई काम वा जिम्मेदारी सर पर आ जावे उसको पूर्ण करने पर जो आनन्द होता है वह पहली की अपेक्षा विशुद्ध व विशेष होता है क्योंकि इसमें पेट में भूख रहते भी महसूस नहीं होती। तीसरी प्रकार का आनन्द वह जो अपने बच्चों वा माता-पिता के प्रति कर्तव्य पूर्ण कर देने पर निश्चिन्तता, हल्कापन व सुखसा महसूस होता है। इसमें पेट में भूख, जिम्मेवारियां आदि रहने पर भी ऐसा प्रतीत होता है मानो मनों का बोझ उतर गया हो। समाज के अर्थात् साधर्मी भाइयों को खिला-पिलाकर जो आनन्द होता है वह पहले वालों की अपेक्षा और विशुद्ध है। पाँचवां साधारण गरीब व दुःखी अथवा पीड़ित प्राणी की

निस्वार्थ सेवा में जो आनन्द होता है वह और अधिक विशुद्ध व विलक्षण होता है। गुरु भक्ति व प्रभु पूजा आदि करके जो हर्ष होता है वह छटे प्रकार का आनन्द अत्यन्त विशुद्ध व अद्भुत होता है। ये सब उत्तरोत्तर विशुद्ध हैं। परन्तु इन सबसे अतीत जो सातवीं प्रकार का आनन्द आत्म-दर्शन से होता है वह शब्दातीत है, उसमें तन्मयता होती है, वहां वाणी का मन का व्यापार समाप्त हो जाता है। इन छः प्रकार के समस्त लोक के त्रिकाली सुख सातवीं प्रकार के एक क्षण के सुख के समक्ष एक कण के सदृश हैं। वहां जाकर इच्छा, नहीं रहती। वह आनन्द भोगने से ही सम्बन्ध रखता है। उसको प्राप्त करने पर सदा के लिये दुःखों का बीज ही विनष्ट हो जाता है। अतः पहले आनन्द के भ्रम में न पड़कर उस अविनाशी आनन्द को प्राप्त करना चाहिये।

उस परमानन्द को प्राप्त करने के लिये हमारी दृष्टि उसी परमभाव पर जानी चाहिये। पुनः पुनः बीच बीच में लक्ष्य को सही रखने के लिये ही यह विषय प्रारम्भ किया जाता है क्योंकि लक्ष्य पर से दृष्टि बहक जाने पर दुःख में ही सुख का प्रतिभास होने लग जाता है। यदि ऐसा हो गया तो हित की बजाय अत्यन्त अहित हो जायेगा। जिस प्रकार सुनार को लक्ष्य साधते समय केवल एक शुद्ध स्वर्ण ही दीखता है इसी प्रकार ज्ञान को भी अपना लक्ष्य साधते समय परम शुद्ध चेतनत्व भावी पर ही दृष्टि रहती है। यही वह दृष्टि है जिस पर लक्ष्य रखने से ही धर्म का व जीवन का सार प्राप्त हो सकता है।

देह से भिन्न आत्मा है यह जानना तो अत्यन्त सरल है। परन्तु अन्दर में जो मेरे साथ एकमेक होकर पड़ा है वह जो रागादि रूप अविद्या भाव है उससे भिन्न जानना अत्यन्त कठिन है। यही तो आत्मा मेरे ज्ञान का मल है, इसको निकालने पर ही पूर्ण शुद्धता प्राप्त होती है। वही पूर्ण आनन्द है। यद्यपि पूर्ण शुद्धावस्था प्राप्ति तो क्रम से होती है, परन्तु उसका लक्ष्य तो एकदम बन सकता है। वही लक्ष्य कहलाता है। उसी को निरन्तर दृष्टि में रखने से जीवन का शोधन करते हुए साधना मार्ग पर चलते बाह्य कष्टों का अनुभव नहीं होता

अपितु आनन्द आता है। अन्तरात्मा चमक उठती है। उसकी साधना खिल उठती है।

जिस प्रकार अजायबघर की वस्तुओं को देखकर उनमें अच्छे, बुरे, मेरे-तेरे, उठाने-धरने, बनाने-बिगाड़ने, हितकर-अहितकारीपने का भाव नहीं होता। अतः यह केवल ज्ञाता भाव है। परन्तु घर की वस्तुओं को देखकर अच्छे-बुरे, मेरे-तेरे आदि के भाव होते हैं यह कर्ता व भोक्तापन से युक्त भाव है। सड़क पर जाने वाले सभी व्यक्ति मेरे दृश्य हैं परन्तु मेरा पुत्र मेरा हितकारी है, सेवा करने वाला है और प्यार करने योग्य है। अतः सड़क पर जाने वाले व्यक्ति को देखना ज्ञाता भाव और पुत्र को देखना, मात्र देखना नहीं भोक्ता भाव है। जानना तो आत्मा का स्वभाव है अतः जो भी पदार्थ सहज रूप से सामने आयेगा उसका प्रतिविम्ब तो दर्पणवत् मेरे ज्ञान में स्वतः पड़ेगा, विना किसी प्रयत्न के। परन्तु उसको विशेष रूप से जानने का प्रयत्न तथा उसमें मेरे तेरे की कल्पना मेरा स्वभाव नहीं है, क्योंकि वह सदैव तथा प्रत्येक पदार्थ को जानने के समय नहीं होती। अतः वह मेरा स्वभाव कैसे हो सकता है ? स्वभाव वह जो सदा रहे। ज्ञाता भाव में दुःख नहीं होता अपितु आनन्द होता है—जैसे अजायबघर के देखने से। परन्तु कर्ताभाव में दुख-सुख आदि होते हैं अतः ज्ञाता भाव स्वभाव है और कर्ताभाव ज्ञान का मल। इसलिए कर्ताभाव को त्याग करके ज्ञाता भाव में टिकना ही साधक का वास्तविक पुरुषार्थ होता है। यही सच्चा पुरुषार्थ है। कर्ताभाव के त्याग करने को ही अन्तरंग चारित्र कहते हैं। इसकी साधना के लिये जो जो बाह्य साधन अपनाये जाते हैं उनको बाह्य चारित्र कहते हैं। अन्तरंग चारित्र ही मुख्य चारित्र है। उसी के पालन करने से, ज्ञाता भाव में टिकने से परमानन्द की प्राप्ति होती है। उसके अभाव में केवल बाह्य चारित्र क्लेश व दुखदायी है। उससे अहंकार की पुष्टि तथा भीतर में अन्धकार की ही प्रतीति होती है। अतः वह चारित्र भार रूप बनकर क्रोधादि कषाय की वृद्धि का ही कारण बनता है और उससे चारित्रवान होने की भ्रान्ति होकर साधक का पतन हो जाता है। अन्तर केवल इतना होता है कि पहले वह इष्टानिष्ट रूप बाह्य

वस्तुओं का भोक्ता रूप अहंकार करता था और अब उनके त्याग भाव का अहंकार करके अपने को त्यागी समझ बैठता है परन्तु इन सबसे भिन्न "मैं केवल इतना ज्ञाता हूं, यह वस्तुयें पहले न मेरी थीं, न हैं तथा न मेरी हो सकती हैं" इस प्रकार के भाव से सदा अनभिज्ञ रहने के कारण अहंकार का त्याग नहीं कर सकने से जीवन में आनन्द नहीं आता। अतः वास्तविक चारित्रवान व साधक वह है जो बाह्य जगत का ज्ञाता बनने का पुरुषार्थ करता है। ग्रहण त्याग के विकल्प नहीं करता।

जीवन का सच्चा सुख प्राप्त करने को अपने ज्ञानत्व भाव को पहिचानकर सर्वतः उसी में टिकना चाहिये। इसी से जीवन में आनन्द आयेगा। बाह्य जीवन में भी उसी से त्याग, संगठन व मैत्री आदि भाव स्वतः प्रगट हो जाने से वह भी सुसंस्कृत हो जायेगा। इस प्रकार के जीवन से व्यक्तिगत जीवन व सामाजिक जीवन भी संगठित व प्रेममय हो जाने से सबका जीवन धारण हो सकेगा। तब कैसे कह सकेंगे धर्म व्यर्थ है। भैय्या! धर्म का फल अत्यन्त मिष्ट है। इसको धारण कर, इससे आज की समस्त शोक व चिन्तायें तुरन्त भाग जायेंगी और तू हृदयालोक में केलि करता होगा।

———

आदर्श देव

दर दर की ठोकरें खाते हुए आखिर थककर आ ही गया नाथ ! आपकी पावन शरण में। क्या प्रभु ! आप मुझे अपना लेंगे ? प्रभु सुना है आप तो अधम को भी तार देते हैं, क्या आप मुझ अधम को भी तार देंगे ? त्रैलोकेश्वर ! प्रभु अनेकों ठोकरें खाई हैं क्या अब भी ठोकरें ही खाता रहूँ ? आखिर कब तक ? आपको छोड़कर जाता भी कहां। जब जगत् को खूब छककर देख लिया। कहीं भी मेरी भूख न शान्त हुई, परिशेषतः आपकी शरण ही तो मुझे त्राण देने वाली है, मुझे अमृत देने वाली है। भूला न जानिये जो सांझ पड़े घर आ जाय, इस उक्ति के अनुसार अब मैं आपकी शरण में आ गया हूँ तो मेरी क्षुधा आज अवश्य शान्त होगी। एक भिखारी राजा के पास जाये तो राजा उसको धन देकर अपने समान बना लेता है, इसी प्रकार आप परमेश्वर क्या मुझे अपने समान बना लेंगे ? क्या मुझे अपनी अंक का आश्रय न देंगे। नहीं-नहीं अवश्य देंगे। गीता में श्रीकृष्ण नारायण ने कहा भी है—

> अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥१२/६॥
> तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात् ।
> भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम् ॥१२/७॥

हे अर्जुन ! जो परमेश्वर को ही अनन्य भक्ति योग से निरंतर चिन्तन करते हुए भजते हैं।६। उन मुझ में चित्त लगाने वाले प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्र से उद्धार करने वाला हूँ।७।

हे नाथ ! आज मैं धन का इच्छुक नहीं हूँ, न कोई लौकिक सुख चाहिये, आज मुझे इन सबसे अतीत अलौकिक सुख व आनन्द चाहिये। जिससे अनादिकी क्षुधा शान्त हो, जिससे पुनः जन्म-मरण की यातनायें न हों, जिस अमृत को पाकर मैं अमर हो जाऊं।

लोक में अनेकों प्रकार के देव होते हैं। कोई नियम नहीं किया जा सकता कि यही एक देव है अथवा यही देव सच्चा अन्य सब झूंठे। अभिप्राय के अनुसार सभी देव सच्चे हैं। जिसको डाक्टरी विद्या चाहिये उसके लिये उसका जानकर जो है वही देव है, जिसको अन्य लौकिक विद्या चाहिये उसके स्कूल के अध्यापक व प्रोफेसर देव हैं, जिसको वीरता चाहिये उसके लिये महाराणा प्रताप, शिवाजी जैसे वीर देव हैं, जिसको देश भक्ति चाहिये उसको भामाशाह जैसे देव हैं, तथा जिसको जुआ सीखना है उसके लिये जुआरी, एक विलासी के लिये सिनेमाहाल तथा एक चोर के लिये एक डाकू ही देव है। मातृ-भक्ति के लिये श्रवण व पितृ भक्ति के लिये राम ही देव हैं। अर्थात् जिसका जीवन का लक्ष्य जैसा होता है उसका देव भी तदनुकूल होता है। अतः आदर्श की अपेक्षा देव भी अनेक प्रकार के होते हैं। एक का आदर्श दूसरे के लिये व्यर्थ होता है। यहां तो प्रयोजन जीवन की शान्ति का है अतः मेरा देव भी पूर्ण शान्त व आनन्दयुक्त होना चाहिये। तभी तो वह मुझे आनन्द व शान्ति दे सकेगा। जो बेचारा स्वयं अशान्त है वह मुझे क्या देगा ?

चलो खोजें अपने आदर्श को ! मुझे शान्त होना है, मुझे पूर्ण ब्रह्म रूप होना है, मुझे तनिक भी विकल्प नहीं चाहिये अतः मुझे अपने लक्ष्य का प्रतिविम्ब रूप देव भी वैसा ही खोजना है। तनिक भी कमी रहने पर स्खलना हो सकती है। जिस प्रभु को भीतर में शान्त देखा था वही बाहर में भी पूर्ण शांत मिले तो मेरा उपास्य हो सकता है, अन्यथा नहीं क्योंकि उसको देखकर मुझे अपने जीवन को वैसा तद्नुरूप बनाना है अतः सत्य रूपेण तो मुझे अपने आदर्श रूप जीवन की खोज करनी है। मुझे तो सहज ब्रह्मानंद चाहिये।

अहा: चलो वन में खोजें अपने प्रभु को ! अरे ! ये वृक्ष के नीचे कौन महामूर्ति ! कितनी आकर्षक है यह ! मानो मुझे खेंचे जा रहे हैं। इनकी आंखों में कितना प्रेम है। इनकी रोम-रोम से अजब छटा छटक रही है, उनकी मुस्कान बता रही है कि इनको कुछ चिन्ता नहीं है, इनके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं जिससे पता लगता है कि प्राकृतिक उपद्रव भी उनके चरण चूमते हैं, उनकी शरण में बैठे शेर,

हिरन, सर्प, नेवला आदि सब शान्त भाव से बैठे उन को एक टक निहार रहे हैं जिससे प्रतीत होता है समस्त ही उनका है और वे सबके हैं, यद्यपि ऊपर से उनका कोई वैभव नहीं है परन्तु हृदय आध्यात्मिक वैभव से परिपूर्ण है। यद्यपि मुंह से वह कुछ नहीं कह रहे परन्तु उनका जीवन ही एक पुस्तक है। ऐसी यह सौम्यमूर्ति कितनी आकर्षक व शान्तिप्रदायक है।

अहो! सच ही कहते हैं कि चन्दन के पास रहकर साधारण वृक्ष भी चन्दन के बन जाते हैं। दूध के साथ रहकर पानी भी दूध के भाव बिका करता है। अतः आपकी शरण में आकर दुष्ट भी शान्त हो जाते हैं। आज मेरी समस्त चिन्ताएँ भाग गई हैं। आज मेरी आंखें एक टक आपको निहारते हुए थक नहीं रही हैं। यद्यपि आप कुछ नहीं दे रहे हैं फिर भी आप सब कुछ देते हैं। सच ही कहा है कि आप अपने भक्तों को अपने समान बना लेते हैं। आप को निहार कर अब मेरी आंखें और कुछ देखना नहीं चाहतीं। कहा भी है—

दृष्टवा भवन्तमनिमेष विलोकनीयं।
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः॥
पीत्वा पयः शशिकर द्युति दुग्धसिंधोः।
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं कः इच्छेत्॥

हे भगवन! आपको अपलक निहार कर भी मनुष्यों की चक्षुएं अत्यन्त संतोष को प्राप्त नहीं होतीं। ठीक ही है कि चन्द्रमा की कांति के समान उज्ज्वल मधुर दूध को पीकर कौन बुद्धिमान खारे समुद्र के जल को पीने की इच्छा करेगा? अर्थात् कोई नहीं।

आज इन पूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म की मूर्ति मुझे सब महान आत्माओं में दिखाई दे रही है। मुझे सब इसी में प्रतिभासित हो रहे हैं एक रूप से। व्यर्थ आज तक द्वेष की ज्वालाओं में जलते रहे। व्यर्थ साम्प्रदायिक झगड़े मोल लेते रहे। जगत् इनको किसी भी नाम से कहे। परन्तु मेरे लिये हैं सच्चिदानन्दमय पूर्ण ब्रह्म। मेरे लिये हैं यह शांति के प्रतीक। जिसके लिये आज तक जगत् में ठोकरें खाईं, आज मुझे प्राप्त हो गई यह सौम्यता, सरलता, स्थिरता, प्रेम, आर्जवता, मृदुता व शौच की आदर्श की मूर्ति। जिससे कुछ न पाकर

भी मैंने सब कुछ पा लिया। अर्थात् आनन्द विभोर हो गया। भूल गया जगत् को व अपने को भी एक क्षण के लिये। न मालूम सब कुछ जंजाल कहां चला गया। मानो मैं दिव्य लोक में पहुंच गया।

इस प्रकार के आदर्श जीवन दो प्रकार के हुआ करते हैं—सिद्ध व साधक। जो पूर्ण होते हैं उनको सिद्ध कहते हैं और जो अपूर्ण होते हैं वे साधक कहलाते हैं। पूर्ण व कृतकृत्य होने से सिद्ध की 'भगवान' संज्ञा होती है और अपूर्ण होने से साधक की 'गुरु' संज्ञा। दोनों ही आध्यात्मिक विद्या प्राप्त करने में सहकारी हैं।

जड़ में जीवन

यद्यपि अब तक आपको समझाने के लिये मैं 'मूर्ति' वा 'प्रतिमा' शब्द का प्रयोग करती आई हूँ, परन्तु भाव की ओर से देखने पर यह कुछ उचित प्रतीत नहीं होता। भगवान राम जिस समय वन जाने लगे तो भक्त भरत ने उनकी पादुकाओं को ही राजा के रूप में अभिषिक्त किया और स्वयं राजा बनना स्वीकार न किया। आंखों से देखने पर यद्यपि भरत ही उस समय अयोध्या के राजा थे, परन्तु उनके हृदय से पूछिये तो अब भी राजा तो राम ही हैं, वे स्वयं तो हैं उनके आज्ञाकारी सेवक मात्र। उनकी दृष्टि में 'पादुका' पादुका नहीं थी बल्कि स्वयं भगवान राम थे। यदि पादुका समझते तो कभी अपने में दासत्व की प्रतीति न हो पाती।

इसी प्रकार किसी भी देश की राज मुद्रा जिस पत्र पर अंकित की हुई है वह पत्र आंखों से देखने पर सामान्य कागज का टुकड़ा होने पर भी भाव की दृष्टि से राज्य का अधिकार प्राप्त प्रतिनिधि है जिसका मूल्य वही है जो कि राजा का। उस पत्र का सम्मान राजा के तुल्य किया जाता है उससे कम नहीं। उसका तिरस्कार राजा का तिरस्कार समझा जाता है। देश की मुद्रा यद्यपि एक कागज का टुकड़ा है परन्तु सरकारी मोहर लग जाने पर वही धन बन बैठती है। सोनेवत् ही उसको प्राणों से प्यारा समझा जाता है तथा तिजोरियों में बन्द करके रखा जाता है। अपने पिता द्वारा द्वारपाल के रूप में स्थापित पृथ्वीराज की प्रतिमा के गले में ही वरमाला डालकर संयोगिता असली पृथ्वीराज की पत्नी बन गई। पृथ्वीराज व जयचन्द का युद्ध एक पाषाण की मूर्ति के लिये नहीं बल्कि स्वयं पृथ्वीराज की मान रक्षा के लिये हुआ था, क्योंकि भाव उचित हो जाने पर 'प्रतिमा' प्रतिमा नहीं रहती बल्कि स्वयं व्यक्ति बन बैठती है। इसी भावोदय के आधार पर एकलव्य भील ने गुरु द्रोण द्वारा पूछे जाने पर यह उत्तर नहीं दिया कि

उसने गुरु की प्रतिमा से विद्या पाई है, वल्कि यह कहा कि साक्षात् आपसे विद्या पाई है। इसी प्रकार अन्यत्र भी स्थल-स्थल पर प्रतिमा या मूर्ति आदि में व्यक्तित्व का व्यवहार देखा जाता है।

इस प्रकार के व्यवहार का आश्रय चाक्षुप दर्शन नहीं वल्कि भावदर्शन है। जिस भाव से ध्वजा वस्त्र से देश की लाज वन वैठती है, जिस प्रकार पादुका स्वयं भगवान राम वन वैठती है, जिस भाव के द्वारा राज्य-मुद्रा राज्य-प्रतिनिधि और राज-प्रतिमा स्वयं राजा समझी जाती है, जिस विशेष से एक कागज का नोट धन वन वैठता है उसी भाव द्वारा क्या भगवत्प्रतिमा स्वयं भगवान नहीं वन सकती ?

इस प्रकार के भाव यद्यपि कल्पना मात्र होने से असत् कहे जा सकते हैं, परन्तु जीवित राजा और राज-प्रतिमा में भावों की समानता होने से वह कल्पना भी सत् है। इस व्यवहार को ही शास्त्र में 'स्थापना' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। स्थापना का अर्थ वह भाव है, जिसमें कि प्रतिमा आदि पदार्थ भी 'यह वही है' ऐसे भासने लगते हैं। "यह वह नहीं पर वैसा है" अथवा "अमुक नहीं वल्कि उसकी मूर्ति है" सो भाव इन्द्रियाधीन है भावाधीन नहीं।

स्थापना का भाव और भी दृढ़ हो जाता है जवकि उसमें कल्पना द्वारा जीवन उण्डेल दिया जाता है। जैसा कि प्रतिमा वनाने से पूर्व जिस पाषाण की प्रतिमा निर्मित होनी है, पहले पवित्र वस्त्र पहन कर उसकी पूजा की जाती है। निर्माता ब्रह्मचर्य व शुद्धाचरण का व्रत अंगीकार करता है इतने समय के लिये। नित्य-पवित्र भाव ही मानों उसमें अंगोंपांगों रूप से प्रगट होते हैं। उसके कला व परिश्रम का वेतन पैसा नहीं होता अपितु आध्यात्मिक उत्कर्ष होता है जिससे प्रतिमा के रोम-रोम में उन भावों की झलक रूप से वैराग्य छलकता है। इसके पश्चात् पंच-कल्याणक विधान द्वारा प्रतिमा में ही, भगवान के गर्भावतरण से लेकर निर्वाण पर्यन्त तक के सर्व दृश्य भाव लीला के रूप में अंकित कर दिये जाते हैं, तव उस भाव में ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानों यह (प्रतिमा) वही जीवित वाल प्रभु हैं जो हमारे देखते-देखते माता के गर्भ में आये तथा इन्द्रादिक ने हमारे सामने ही जिनका धूमधाम से पाण्डुक शिला पर ले जाकर

अभिषेक किया है। बाल-सूर्यवत् धीरे-धीरे बढ़कर जिन्होंने हमारे देखते-देखते युवावस्था में प्रवेश किया, अमुक तिथि को जिनका अमुक कन्या के साथ पाणिग्रहण हुआ और इतने वर्षों तक न्याय पूर्वक राज्य करके जो हम सभी के सुहृदय और प्रेमभाजन बन गए। एक दिन अकस्मात वैराग्य उदित हो जाने पर वही राजर्षि सर्व राजपाठ त्याग वन की ओर प्रयाण कर गये और बहुत समझाने व गिड़गिड़ाने पर भी जिन्होंने दीक्षा धारण करके केशों का लुंचन कर दिया। उस समय हम सभी अश्रुपूर्ण आंखों से उस अपने हृदय के टुकड़े को निहार रहे थे। उसी समय उसको (प्रतिमा) सूर्य मन्त्र दिया गया एवं प्राण प्रतिष्ठा की गई, जिससे वह दैवी शक्तियों का अधिष्ठान बनकर जीवन धारण कर गई। एक दिन अकस्मात वही योगिराज चर्या करते-करते नगर में पधारे और मैंने स्वयं उनको आहार दान करके कृतकृत्यता का अनुभव किया। उस दिन मेरा आंगन व हृदय दोनों पवित्र हो गए थे। पीछे तपस्या द्वारा शीघ्र ही कर्मों का विध्वंस करके उन्होंने ज्ञान ज्योति प्रकट की और अपने दिव्य उपदेशों द्वारा जगत् का कल्याण किया। उनकी उपदेश सभा बड़ी विचित्र तथा प्रभावक हुआ करती थी। असंख्य जनसमुदाय देवता व पशु भी वहां उपदेशामृत पान किया करते थे। मैंने भी कई बार उपदेश सुना था, कितना प्रिय लगता था वह समय ? अन्त में वे शरीर त्याग निर्वाण प्राप्त करके इस लोक के मस्तक स्थानीय सिद्ध लोक में जा विराजे और हम लखते रह गए। मानों उनके जीवन काल की ये सारी घटनायें हमारे समक्ष ही हुई हों, मानों वे बालपन से निर्वाण होने तक हमारे साथ ही रहे हों और हमारे साथ ही बड़े हुए हों, स्मृति में ऐसा प्रतिभासित होने लगता है। यह (प्रतिमा) साक्षात वही भगवान हैं जो मेरे भक्ति-भाव द्वारा आकर्षित होकर ही मानों दर्शनों से हमें तृप्त करके अज्ञान का आवरण दूर करने के लिए इस भूमण्डल पर पधारे हों। ऐसी अवस्था में भला कौन इसे प्रतिमा कहेगा ? यह तो साक्षात् भगवान ही हैं। इतना हो जाने पर भी प्रतिमा या मूर्ति कहे जाने का अर्थ है कि आपने पंच-कल्याणक विधान को

भी एक उत्सव के रूप में देखा था, सिनेमावत् सच्ची घटना के रूप में नहीं।

विशेषतया वीतरागता के कारण वास्तव में जीवित भगवान व उनकी प्रतिमा की मुद्राओं में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि समाधिस्थ योगी जड़वत् निष्क्रिय ही होते हैं। जिस प्रकार जीवित भगवान कुछ बोलते नहीं थे इसी प्रकार ये भी नहीं बोलती हैं। जिस प्रकार वह अपलक तथा हाथ में हाथ रखे थे ऐसे ही यह स्थिर है। जिस प्रकार उनकी निन्दा व स्तुति करने पर उनको विषाद व हर्ष नहीं होता था इसी प्रकार इसको नहीं होता। जिस प्रकार वह अपनी रक्षा स्वयं करने रूप भाव नहीं करते थे इसी प्रकार यह भी नहीं करती हैं। जिस प्रकार उनके रोम-रोम से शान्ति टपकती थी इसी प्रकार इसके टपकती है। जिस प्रकार उनमें चेतनता के कोई लक्षण प्रगट न थे अपितु अनुमान से ज्ञात होते थे इसी प्रकार इसमें भी अनुमान से चेतनभाव पढ़ा जा सकता है। वे उपदेश नहीं देते थे अपितु स्वयं भावों द्वारा पढ़कर जीवन में शान्ति व आनन्द उत्पन्न करना होता था इसी प्रकार भावों द्वारा इस पर भी पढ़कर जीवन में शान्ति लाई जा सकती है। इसकी समस्त क्रियायें जीवित भगवानवत् हैं कोई भी अन्तर नहीं है। अन्तर है तो केवल इतना ही कि वह चर्म की मूर्ति थी और यह पाषाण की। यदि दर्शक को यह न पता हो कि यह प्रतिमा है तो अन्धेरे में देखने पर आप ही बताइये कि वह उसे जीवित समझकर दर्शन करेगा वा कि जड़ समझकर। वह क्यों नहीं उसी भाव का प्रयोग करके उसे जीवित ही देखें। आंखों द्वारा जड़ दीखने के कारण ही दर्शनों में वह प्रेम व भक्ति भावपूर्ण रस जागृत नहीं होता, जो दर्शनों के फल रूप से शास्त्रों में बताया गया है। भावों द्वारा देखने पर तो यह जीवित भगवान ही दिखाई देंगे और हृदय में वही भक्ति व प्रेम जागृत हो जायेगा जो कि जीवित के प्रति होता है। इसलिए भावों का प्रयोग करके इन्हें भगवान के रूप में देखिये प्रतिमा के रूप में नहीं, इन्हें भगवान ही कहकर सम्बोधन कीजिये प्रतिमा कहकर नहीं, भगवानवत् ही इनके साथ सकल व्यवहार

कीजिये प्रतिमावत् नहीं। यही विज्ञान है, अध्यात्म विद्या है, कला है।

प्रतिमा व चित्र को भगवान स्वीकार कर लेने पर फिर उनको कैलेण्डरों पर छपवाकर वितरण करना ठीक नहीं है। बच्चे-बच्चे के हाथ में वह चित्र पहुंचकर तथा वर्ष के पश्चात् उनकी तिथियें व्यर्थ हो जाने के कारण वे रद्दी की टोकरी में जा पड़ते हैं। जूतों में व विष्टा के ढेर पर जा पड़ते हैं। क्या वास्तव में यही भगवद्भक्ति है। क्या यही विनय है। ऐसा वही करेगा जिसने वास्तव में सच्चे भगवान के दर्शन नहीं किये होंगे, उस चित्र को साधारण कागज का टुकड़ा समझा होगा। यत्र-तत्र कमरों में वीतराग-प्रभु के चित्र टांगना और उन्हीं के समक्ष क्रोध, हँसी वा विलासिता करना ? भैय्या ! एक ओर तो वीतरागता और दूसरी तरफ राग, एक तरफ शान्ति और दूसरी तरफ क्रोध यह विरोध कैसे ? जिन प्रभु के समक्ष समस्त मल निकालकर जीवन शोधन करने की शिक्षा है उन्हीं के समक्ष ऐसा निन्द्य कर्म अशोभनीय है। भैय्या ! कागज का टुकड़ा समझा है तभी तो ऐसा आचरण होता है। ऐसा नहीं हो सकता कि जिस समय दर्शन करूं उस समय तो भगवान है और शेष समय नहीं। कल्पना करली जाने पर वह सदा वैसा ही रहता है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं आपको घर में भगवान के चित्र टाँगने को मना कर रही हूँ। भैय्या ! मेरा तात्पर्य है उस सामान्य स्थान पर मत टाँगिये किसी पृथक् पवित्र स्थान पर ही प्रभु का स्थापन कीजिये। ऐसे स्थान पर कि जहां आप प्रभु से युक्त होकर ही प्रवेश कर सकते हों। अथवा उसका ऐसा प्रबन्ध कर दीजिये ताकि मुँहदर मुँह होने पर आप कोई अनुचित कर्म न कर सकें ताकि जब प्रभु के समक्ष जावें तो आपके चित्त में अपने दोष प्रगट भासने लगें और प्रभु से आप क्षमा मांग सकें।

आदर्श शास्त्र

आज के इस गहन अन्धकार में यत्र-तत्र हाथ मारते हुए, कहीं भी आशा की किरण दिखाई नहीं देती, जिसका आश्रय लेकर संकल्प-विकल्प, आशा-तृष्णा, चिन्ता व व्यग्रताओं रूपी निशाचरों से अपनी रक्षा की जा सके। जीवन को कुछ काल के लिये अशान्ति से बचाने के लिये देव का आश्रय लिया था, परन्तु उनके प्रति भी चित्र में से उद्गार व भक्ति स्वतः कब तक निकलते रहेंगे? भगवान बोलते तो हैं नहीं जो कुछ बता दें और उनकी मुखाकृति पर से क्या-क्या पढ़ा जावे? कुछ जीवनोपयोगी भाव तथा कुछ काल के लिये ही तो? जीवन में व्याकुलता पर विजय प्राप्त करके आनन्द प्राप्त करने की सम्भावना रूप जीता जागता आदर्श गुरू के जीवन को अपनाया। गुरू का सान्निध्य प्राप्त करके भव-भव के सन्ताप भाग गये परन्तु गुरू का सम्पर्क भी तो निरन्तर नहीं रह सकता। रमते जोगी हैं न मालूम कहां चले जावें? यदि घर छोड़ कर उनका पल्ला भी पकड़ लिया जावे तो भी गुरू का सम्पर्क भाग्यशाली को ही मिल पाता है। आज के इस काल में तो सहज रूप से आदर्श गुरू उपलब्ध भी नहीं है। कदाचित नित्य आदर्श गुरू का सान्निध्य प्राप्त हो जाने पर भी सच्चे गुरू तो अधिक समय योग-युक्त रहेंगे। वे मुझे बोलकर उपदेश तो नहीं देते रहेंगे। तब इतने समय तक मन वही दिशाओं में घूमने लगेगा। ऐसी दशा में मेरी रक्षा कैसे हो? मुझे तो हर समय कुछ बताने वाला चाहिये, जिससे एक-एक बात समझकर जीवन में उतारी जा सके तथा मन को भी उलझाया जा सके।

अहो! उन परम गुरूओं की परमानुकम्पा, जिन्होंने मेरे लिये आशा की किरण दिखाई। मेरे लिये शास्त्र रचकर मेरे मृत शरीर में प्राण ही डाल दिये। उन्होंने लिख दिया मेरे जीवन का आदि से अन्त तक का इतिहास। जो सूक्ष्म-सूक्ष्म तत्व उन्होंने अपने समाधिगत चित्र

में अनुभव किये वे लिख दिये, जिनको पढ़कर मैं अपने मन को अधिक समय तक उसमें लगा सकूं। कर्तव्य व अकर्तव्य का विवेक उत्पन्न करके निषिद्ध कर्मों से बच सकूं। घर बैठे समस्त सृष्टि का अवलोकन कर सकूं। उसको पढ़कर ही तो देव की आकृति पर से भी कुछ जीवन में अपना सकूं क्योंकि नमूना यद्यपि बहुत कुछ अपना रूप दिखाता है परन्तु अपना बनाने का उपाय नहीं बता सकता। उसके लिये तो उसके प्रयोग को जानने की अपेक्षा होती है जिसको जान वा पढ़कर नमूने के अनुकूल माल तैयार किया जा सकता है। बस वह कमी पूर्ण कर दी इस ऋषिवाणी ने। उसको पढ़कर मैं देव के अनुरूप जीवन बना सकता हूँ। गुरुप्रदत्त इस शास्त्र के प्राप्त होने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानों गुरू का नित्य सम्पर्क ही मुझे प्राप्त हो गया है। गुरू की वाणी गुरू ही तो है। इसको पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है मानो गुरुदेव साक्षात सामने बैठे मुझे सम्बोध रहे हों। मानों गुरू मेरे जीवन के अपराध मुझे निकालकर बता रहे हों। अतः इस परमार्थ मार्ग पर साथ चलने वाली यह परम मित्र है। यह ही मेरा तीसरा नेत्र है।

डगमगाती इस नैय्या को पार लगाने वाली इस वाणी माता की गोद का आश्रय लेना ही इस निकृष्ट काल में विकल्पों रूप निशाचरों से बचने का एकमात्र उपाय है। अतः शास्त्र का पठन अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार कोई स्कूल वा कालेज में जावे और गुरू के आगे वा दिवारों को हाथ जोड़कर आ जावे तो उससे कोई लाभ नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार यदि कोई मन्दिर आवे और हाथ जोड़कर चला जावे तो उसको भी कुछ लाभ नहीं हो सकता। जिस प्रकार भौतिक विज्ञान के साहित्य को पढ़े बिना उसके आविष्कार व चमत्कारों का ज्ञान व विश्वास नहीं हो सकता इसी प्रकार इसके साहित्य को पढ़े बिना इस विज्ञान का ज्ञान व इसके चमत्कारों पर विश्वास होना भी असम्भव है। जिस प्रकार लेख में सभी विद्याएँ पठनीय हैं इसी प्रकार बुद्धि के सही विकास के लिये इस अध्यात्म विद्या का पठन भी आवश्यक है। जिस प्रकार किसी भी विषय को बिना किसी के समझाये प्रारम्भ में हम स्वयं समझ नहीं सकते उसमें गुरू की अपेक्षा होती है, क्योंकि प्रत्येक विषय के अपने विशेष पारिभाषिक

शब्द होते हैं, जो विना समझाये समझ में नहीं आ सकते। वस इसी प्रकार इस विज्ञान के भी कुछ पारिभाषिक शब्द हैं जो कि बताने वाले की अपेक्षा रखते हैं। जिस प्रकार भौतिक विज्ञान के साहित्य को शब्दों मात्र में स्मरण कर लेने से काम नहीं चलता उसके वाच्यभूत पदार्थ का ज्ञान व प्रयोग की अपेक्षा होती है, इसी प्रकार इसके शब्दों को पढ़ने मात्र से काम नहीं चलता अपितु इसके वाच्यभूत पदार्थ व जीवन में प्रयोग की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार भौतिक विद्या को विश्वास-पूर्वक अपनी कल्याणकारी समझकर मन लगाकर पढ़ा व सुना जाता है इसी प्रकार इसको भी श्रद्धा-पूर्वक अपने लिये उपकारी समझकर श्रवण व पठन करना चाहिये।

स्वाध्याय शब्द का अर्थ है स्व+अध्याय अर्थात् अपना यानि अपने जीवन का अध्ययन करना। अर्थात् शास्त्र को पढ़कर उसके तत्वों को जीवन में खोजना। जीवन को पढ़ना ही स्वाध्याय है। जो शास्त्र के आगे हाथ जोड़कर चला जावे अथवा पढ़कर भी चला जावे परन्तु यह मालूम न हो कि उसमें क्या लिखा है तो इसको स्वाध्याय नहीं कहेंगे। उसके पढ़ने का कोई लाभ नहीं। अथवा कोई शास्त्र के शब्दों को पढ़कर उसको अपने जीवन पर तो लागू करे ना, अपितु दूसरों के दोषों का अन्वेषण करने लग जावे तो वह स्वाध्याय का दुरुपयोग है। शास्त्र मेरे जीवन का रूप है अतः मेरा जीवन है। उसको अपना जीवन समझकर ही पढ़ना चाहिये। उसके वाच्यभूत पदार्थ पर दृष्टि जानी चाहिये। जैसे मैंने चन्द्रमा कहा तो यदि आपकी दृष्टि चन्द्रमा शब्द पर ही अटकी रही तो आपने चन्द्रमा को न जाना। शब्द पर से हट कर जब दृष्टि चन्द्रमा पदार्थ पर पहुँच जावे तब वास्तव में चन्द्रमा जाना कहा जावेगा। वस इसी प्रकार आगम का प्रत्येक वाक्य मेरे जीवन की ओर लक्ष्य कर रहा है अतः मेरा उपयोग शब्दों में न अटककर भाव अर्थात् वाच्य पदार्थ पर जाना चाहिये। अर्थात् उन तत्वों की जीवन में खोज करनी चाहिये। अन्यथा तो ग्यारह अंगों का शब्द ज्ञान हो जाने पर भी अज्ञानी रहा और केवल "तुप माप भिन्न" इन दो अक्षरों का भाव ज्ञान हो जाने पर

ज्ञानी बन संसार काट गया। भावश्रुत की महिमा है शब्दों की नहीं। शब्द पढ़ने से विद्वान बनता है परन्तु भाव पढ़ने से भगवान।

एक बार शास्त्र पढ़ लेने मात्र से ही काम नहीं चलता। जिस प्रकार स्कूल की पुस्तकें एक बार पढ़ लेने मात्र से प्रयोजन की सिद्धि नहीं करती अपितु पुनः पुनः पठन व मनन की आवश्यकता होती है, एक घण्टा अध्यापक से पढ़ने के पश्चात चौबीस घण्टे घर जाकर मनन की अपेक्षा होती है, इसी प्रकार शास्त्र भी एक बार पढ़ लेने मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये अपितु चौबीस घण्टे उसका मनन करना चाहिये तथा जीवन में अनुभव करना चाहिये। श्रवण-मनन व निदिध्यासन से ही प्रत्येक विद्या की पूर्ति होती है। जिस प्रकार गाय एक बार घास खाकर कुछ काल बैठकर जुगाली किया करती है इसी प्रकार शास्त्र पढ़कर फिर चौबीस घण्टे तक उसको विचारना और धारण करना ही जुगाली है तब ही तत्व जीवन में पचा कहा जायेगा। तब स्वाध्याय का सच्चा आनन्द आयेगा।

साहित्य का वैज्ञानिक रूप

आज के इस अन्धकारमय समय में इस अन्धे को आंखें प्रदान कर देने वाली वह ऋषियों की वाणी ही समर्थ है। ऋषियों के समाधिगत् चित्त से उद्भूत वह तत्व परम अमृत स्वरूप है। कहां भुलाया जा सकता है उन पर-दयारत तपोधनों को, जिन्होंने हृदय का मन्थन करके निकाला नवनीत मुझे प्रदान किया है। परन्तु दुर्भाग्य है मेरा कि प्राप्त करके तथा क्षुधातुर होते हुए भी मैं उसका भोग नहीं कर पा रहा हूँ। हे नाथ! करुणा कर उसकी गहनता में पहुँचने की शक्ति प्रदान करें। प्रभु की यह वाणी घर बैठे मुझे अन्तरंग व बाह्य जगत् का प्रत्यक्ष करा देने वाली है। सृष्टि के समस्त भौतिक व आध्यात्मिक चमत्कारों रूप रत्नों से खचाखच भरी है। जो इसकी गहनता में प्रवेश करता है उसी को उनकी प्राप्ति हो जाती है अन्यथा घर में हीरा दबे रहते भी दरिद्रता का दुःख नहीं जाता।

गुरूओं की दया अपरम्पार है, उनकी महिमा का कहां तक वर्णन किया जा सकता है। उन ऋषियों ने जगत् के सभी तत्व व विज्ञानकृत सिद्धान्तों व आविष्कारों को सूत्रबद्ध कर दिया है। तथा जो जैसा पात्र है उसको उसकी योग्यता के अनुसार ही औषधि प्रदान की है। मूलरूप से समस्त शास्त्रों को चार महाविभागों में विभक्त किया गया है। कथानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग व चरणानुयोग। सर्वप्रथम होने से कथानुयोग को प्रथमानुयोग भी कहा जाता है। इसमें महापुरुषों के जीवन चरित्र का वर्णन किया गया है जिसको पढ़कर यह पता लगता है कि एक पापी मनुष्य भी किस प्रकार क्रम से सदाचरण का आश्रय लेकर जीवन का उत्थान कर सकता है तथा एक धर्मात्मा भी पापादि करने से क्रम से अधोगति को प्राप्त होता है। साथ इसमें दुर्बोध से दुर्बोध तत्वों को भी साकार रूप दे दिया गया है। इसको पढ़कर बाल बुद्धि भी धर्म के रहस्य को समझकर जीवन में धारण कर सकता है। कथाएँ

इतनी मनोहारी एवं रोचक होती हैं, कि यदि सारा दिन भी क्यों न पढ़ी जायें, परन्तु इनसे मन नहीं ऊब सकता, अपितु ज्यों-ज्यों पढ़ी जाती हैं त्यों-त्यों आगे-आगे जानने की उत्कण्ठा हुआ करती है। इसका प्रभाव सीधा जीवन पर पड़ता है। क्या बाल क्या वृद्ध सभी कथायें सुनाने व सुनने के शौकीन होते हैं। जितने भी संसार के महापुरुष हैं उनका जीवन भी महान-पुरुषों की गौरव गाथायें सुनकर ही बना है, इसका साक्षी इतिहास है तथा प्रत्यक्ष जगत् है। प्रत्येक दुरूह विषय को समझाने के लिये दृष्टान्त व उदाहरण की आवश्यकता होती है वह भी कथा का ही रूप है। अतः कथानुयोग सरल, रोचक व प्रभावशाली जीवन का जीता-जागता रूप ही मानों ऋषियों ने रच दिया है।

दूसरा अध्याय करणानुयोग का है जिसमें जीव के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों का जड़-कर्मों के द्वारा निरूपण किया गया है। यद्यपि सभी दर्शनकारों ने कर्म-सिद्धान्त का निरूपण किया है। परन्तु जितना विशद व सूक्ष्म वर्णन जैन ऋषियों ने किया है इतना अन्यत्र नहीं पाया जाता है। कर्म सिद्धान्त का वाहन व विस्तृत वर्णन षट्खण्डागम, कषाय पाहुड़, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में पाया जाता है जो कि मूल सिद्धान्त का शतांश भी नहीं है। इसमें जीव के संस्कारगत् कर्मों का बन्ध, उदय, सत्व, उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरण, क्षय, क्षयोपशम आदि का वर्णन किया गया है। व्यवहारगत् जीवों की तो बात ही नहीं, समाधिगत योगी के भी वासना रूप से कितने कर्मों एवं संस्कारों की सत्ता है इसका दिग्दर्शन यही अनुयोग कराता है जिससे साधक उन सूक्ष्म से सूक्ष्म परिणामों की सत्ता जानकर उसका मूलतः विनाश करने में ही अपनी साधना की पूर्णता समझे और कुछ एक स्थूल कषायों के उपशमन मात्र में ही अपनी साधना की पूर्णता का भ्रम न कर बैठे। इसके अतिरिक्त इस अनुयोग में सृष्टि का अध्ययन भी किया गया है। भूगोल व खगोल की रचना किस प्रकार है। स्वर्ग व पाताल लोक कहां हैं तथा उनका स्वरूप क्या है? वे आकाश में किसके आधार पर टिके हुए हैं? इस पृथ्वी के अतिरिक्त अनन्तों और भी ब्रह्मांड इस अनन्ताकाश में विचरण कर रहे हैं, उनका परस्पर में क्या सम्बन्ध है, वे कैसे

बने है, चन्द्र व सूर्य क्या चीज हैं, वे आकाश में कैसे टिके हैं, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि का गमनादि कैसे होता है, उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है, सूर्य ग्रहण आदि क्या चीज है, ज्वार-भाटा कैसे आते हैं, इन ग्रह व उपग्रहों का मानवीय प्रकृति से क्या सम्बन्ध है, मनुष्य के भावी सुख व दुखों को ये कैसे दर्शाते हैं, आदि-आदि सभी विषयों का उन ऋषियों ने गहन मन्थन किया था। परन्तु काल के दूरवर्ति होने से भाषा व शैली का अन्तर हो जाने से ये विषय बुद्धि का प्रयोग माँगते हैं। साधारणतः समझ में नहीं आते। इनको विशेष खोज की दृष्टि से पठन व मनन करने की आवश्यकता है। ऋषियों के प्रत्यक्ष किये वे विषय हैं सत्य। भले कोई अन्ध विश्वास एवं रूढ़ि के आधार पर अपने बाप-दादा के मुंह से विपरीत सुनता आया हो और अब भी उसी पर अड़ा हो, और आज के विज्ञान से उसका मेल न बैठाता हो। परन्तु आचार्यों की दृष्टि में न्यूनता नहीं है, उनके तत्व प्रत्यक्ष के विज्ञान से कभी विपरीत नहीं हो सकते। परन्तु उनकी दृष्टियों से सम्मेल बैठाने की आवश्यकता है।

वाणी का तृतीय अध्याय द्रव्यानुयोग का है। इसमें सृष्टि के मूल तत्व जड़ व चेतन का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। मैं कौन हूँ? पर अर्थात् जड़ प्रकृति क्या है? इसके अतिरिक्त जगत् में तत्व क्या है? इन दोनों तत्वों का परस्पर मेल कैसे होता है? अर्थात् अमूर्तिक जीव मूर्तिक जड़ के साथ कैसे बंधता है? दोनों के कार्यों की सीमायें क्या हैं? जीव जड़ के साथ बंधकर कैसे बाह्य व भीतरी जगत् अर्थात् संसार का निर्माण कर लेता है? फिर कैसे चतुर्गति में अपनी ही भूल के कारण दुःख भोगता फिरता है। उस अपनी भूल को तत्व विवेक से यह कैसे दूर करके अविनाशी सुख को प्राप्त कर सकता है? जीव की अनन्ता शक्ति क्या है? जड़ सृष्टि क्या है? कैसे बनती है? इसका जीव से क्या सम्बन्ध है? सुख व दुःख क्या है? संसार व मुक्ति क्या है? तथा किन कारणों से होती है? इन सब विषयों का इस अनुयोग में वर्णन है।

चतुर्थ अधिकार चरण अर्थात् चरणानुयोग का है। आचरण दो प्रकार का होता है बाह्य व भीतरी। बाह्य चरण कुछ बाह्य त्यागादि

तथा वाह्य विवेकपूर्ण क्रियाओं से सम्बन्ध रखता है और अन्तरंग चारित्र मन की वैराग्यपूर्ण भावनाओं से। दोनों का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वाह्य में विवेक शुद्धता होना मन के विचारों पर बड़ा प्रभाव डालता है। कहा भी है "जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन"। अर्थात् मन को पवित्र दयावान व वैराग्यमय रखने के लिये वाह्य में अहिंसक प्रवृत्ति की आवश्यकता है। वाह्य में अहिंसक वृत्ति होने पर अन्तरंग में दया-भाव सम्भव है। परन्तु वाह्य में हिंसक प्रवृत्ति हो तो अन्तरंग में दयाभाव की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है अतः वाह्य व अभ्यन्तर दोनों जीवनों के अर्थ दो प्रकार का आचार शास्त्र है।

इन चार अध्यायों के अतिरिक्त इस गम्भीर वाणी में इस भौतिक विज्ञान के आविष्कृत सभी आविष्कारों की प्रक्रियाओं का निरूपण है। जो काल दोष से विलुप्त हो गये हैं। परन्तु उनका नाम आदि अवश्य उपलब्ध हो जाते हैं। जैसे—आग्नेय अस्त्र, धूम्रवाण, वरुणवाण, विमान, जल-गमन, आकाश व अग्निगमन ही आज के वम्व, अश्रुगैस, हैलीकोप्टर, स्टीमर आदि हैं। ऋषियों ने जिस गणित का वर्णन किया है आज के विज्ञेता अभी उसको स्पर्श भी नहीं कर पाये। काल के सबसे छोटे भाग 'समय' को यूनिट माना गया है, जिसको अभी तक वैज्ञानिक लोग विश्लेषण भी नहीं कर पाये। सैकिण्ड को वैज्ञानिक लोग सबसे छोटा यूनिट मानते थे, परन्तु आज चन्द्र यात्रियों ने एक सैकिण्ड में सैकड़ों किलोमीटर जाकर उसका भी विभाग सिद्ध कर दिया है। इसी प्रकार परमाणु को कितना सूक्ष्म व अनन्ता शक्ति वाला ऋषियों ने स्वीकार किया है, वैज्ञानिक जिसकी सूक्ष्मता पर अभी पहुँचे भी नहीं हैं।

भैय्या ! कहां तक वताया जाये ? ऋषियों की दृष्टि अत्यन्त गहन थी, परन्तु आज हम उन ऋषियों की वाणी को ठुकराकर विदेशियों की खोज पर रीझ रहे हैं तथा अपने को सबके पीछे मान रहे हैं। हमारे ऋषियों के तत्वों को पढ़कर प्रकाश में लाने वाले आज वे हमारे गुरु वैठे हैं। कितने दुःख की वात है फिर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं। हमें अपने योगियों पर विश्वास नहीं। क्या तो आदर्श था "कि यह वात इसलिये सत्य है क्योंकि भारतीय ऋषि ने

कही है। परन्तु आज है कि यह बात इसलिये सत्य है क्योंकि अमुक अंग्रेज ने कही है।" अरे! विदेशी जन अभी बच्चे हैं। तू अपने ऋषियों की शरण में आ जो समस्त विश्व को प्रकाश दे रहे हैं।

उपरोक्त सभी विषयों में ज्ञान के विकास के लिये सभी पठनीय हैं। परन्तु आत्म-कल्याण की दृष्टि रखने वाले को द्रव्यानुयोग व अध्यात्म के ग्रन्थ पढ़कर तत्व विवेक जागृत करना मुख्य है तथा पाप रूप कर्म से बचने के अर्थ तथा सदाचरण में जीवन को प्रवृत्त के अर्थ चरणानुयोग शास्त्रों का पठन भी अपेक्षित है अन्यथा तो तत्व-विवेक केवल शब्दों का भार व शुष्क चर्चा रूप मात्र बनकर रह जायेगा। तत्व-विवेक से शून्य केवल आचरण बाह्य क्रिया-काण्ड आडम्बर बनकर रह जायेगा अतः दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

आदर्श गुरु

अहा! गुरू शब्द कितना मधुर है। 'गुरू' अर्थात् भारी-महान। जो भारी हो अर्थात् जो गुणों के गुरूभार से भारी हो उसको गुरू कहते हैं। जिसमें आत्मिक गुणों का उत्कर्ष पाया जाता हो उसको गुरू कहते हैं। ऐसा गुरू ही पूज्य होता है, महान होता है।

मुझे अपने जीवन का उत्थान एवं प्रकाश करना है। मुझे एक ऐसे कुशल वैद्य की आवश्यकता है जो कि मेरे रोग की जड़ को निकालकर मुझे स्वास्थ्य प्रदान करे। मुझे इस भव-समुद्र से पार होना है अतः मुझे एक कुशल खेवटिया की आवश्यकता है। जिस किसी को भी गुरू बना लेने पर न मालूम वह मुझे कहां ले जावे अथवा मध्य में ही डुबा दे, तो "फिर तो चौबे जी चले थे छब्बे बनने दुब्बे बनकर आ गए" वाली लोकोक्ति चरितार्थ हो जायेगी। गुरू मेरे जीवन को बनाने वाला है, अतः उसको अपने आदर्श के अनुकूल देखकर बनाना चाहिये तनिक सी असावधानी होने पर सारा जीवन मिट्टी में मिल जायेगा। क्योंकि नाममात्र धारी गुरू स्वयं भी डूबता है और शिष्य को भी डुबाता है। कहा भी है—7320

अन्तर रागादि धरें जेंह, बाहर धन अम्बर ते स्नेह।
धारें कुलिंग लहि महत् भाव, ते कुगुरू जन्म-जल उपल नाव॥

जिनके मन में धनिक के प्रति प्रेम रहता है जो स्तुतिगण की स्तुतियों से खिल उठता है, जो सदा धन के संचय की भावना रखता है, जो तनिक सी बात पर क्रुद्ध हो जाता है, जिसने राग के प्रतीक बाह्य में वस्त्रादि धारण किये हैं अथवा परिग्रह का संचय करता है, जो शरीर की सफाई में खिचाव रखता है, जिसको मधुर रस कलित पौष्टिक भोजनों के प्रति आकर्षण है, जिसकी आंखें सुन्दर रूप को देखने के लिए दिशाओं का अवलोकन करती हैं, जो राग-वर्धक कथाओं

में आनन्द लेता है, जिसको तनिक सी बात पर क्रोध आ जाता है, जो अपनी प्रशंसा सुनने का इच्छुक है, जो लोक रञ्जना के अर्थ तप-ध्यान व भाषण देता है, जिसका एकान्त में मन उड़ने लग जाता है, जिसको बैठते-उठते, चलने-फिरने आदि की क्रियाओं में तनिक भी विवेक नहीं होता है, जो लौकिक जनों के संसर्ग से सदा घिरा रहता है, जो मन्त्र सिद्धि आदि का व्यापार करता है, जो अनेक तरह से मन में मायाचार रखता है, आदि-आदि दोषों से जिसका जीवन कलित है, वह बेचारा स्वयं वीतरागता से दूर है इसलिये दूसरों को क्या दे सकेगा ? वह तो पत्थर की नाव के सदृश स्वयं भी डूबता है और अपने आश्रयिगणों को भी डुबोता है अतः ऐसे गुरू का संसर्ग नहीं करना । यहां पर किसी के दोष दर्शन का अभिप्राय नहीं है। किसी के दोष देखकर उनकी निन्दा वा उनसे घृणा करने का प्रयोजन नहीं है, न ही उनकी अविनय वा उपेक्षा करना युक्त है । निन्दा वा अपमान तो किसी साधारण व्यक्ति का भी नही करना चाहिये । और फिर मैं चलूं वीतरागता लेने और स्वयं निन्दा करके पाप रूप कंकड़ का संग्रह कर लूँ तो टोटा तो मुझे ही रहेगा । यहां तो अपना आश्रय वा गुरू ढूंढने की बात है । जो मुझे आदर्श जचें उसको गुरू बना लूँ न जचे तो न सही । जैसे बाजार में बहुत सी वस्तुयें हैं जो अच्छी लगे तो खरीद लूँ न लगे तो न सही । परन्तु अन्य वस्तुओं से द्वेष नहीं होता । चलो अब अपने आदर्श गुरू को ढूंढें ।

दर-दर की खाक छान ली, कोना-कोना ढूंढ लिया । परन्तु यहां तो कोई एक भी वीतराग व शान्त गुरू नजर नहीं आता । ये सभी तो किसी न किसी रूप में लौकिकता में ही फसे हैं । परमार्थ क रंग में रंगा जीवन ढूंढने पर भी न मिला । भैय्या ! ऐसे विरागी वस्तियों में वा जनसमूह में न मिलेंगे । वे तो जनसमूह से डरकर भागते हैं— प्रकृति की शान्त गोद में । वे जगत् को नहीं जानते और जगत् उनको नहीं जानता । वे जगत् में नहीं आते और जगत् उनके पास नहीं जाता । चलो, उनको खोजें शून्य खण्डहरों वा पर्वतों की गुफाओं में ।

वहाँ होंगे तुझे उन योगिराज के पवित्र दर्शन। यह मत समझ कि पंचम काल है इसमें ऐसे साधु नहीं हो सकते। भैय्या! योगी के लिए काल का व्यवधान नहीं होता। हां जगत् के लिए अवश्य होता है। जगत् जव विलासी हो जाता है तब उसको अपनी विलासिता से ही अवकाश नहीं मिलता। ऐसे अवसर पर अपने दोष ढांपने के लिए वह कहता है कि आज वीतरागी साधु कहां? भय्या! जो जिज्ञासु होगा, वह ही जंगल-जंगल की खाक छानेगा, अपने तन-मन व धन का वलिदान देगा, जीवन समर्पण कर देगा गुरू की खोज में, खाना-नहाना भूल जायेगा, तव कहीं जाकर उसको सच्चे गुरू की शरण प्राप्त होगी। तव उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है।

ओह! यह कौन शान्त मूर्ति पर्वत की गुफा में वैठी है, जिसके शरीर पर धूल जमी है, परन्तु अन्तर तेज से शरीर का रोम-रोम दमक रहा है जिसके प्रकाश से सारी गुफा शोभायमान हो रही है, जो विलकुल शान्त वैठे हैं जैसे पहले भगवान देखे थे। उनकी सौम्यता व वीतरागता वैसी ही लग रही है। सभी जाति के जिज्ञासु इनकी शरण में वैठकर उनके मुख से झरते अमृत का पान कर रहे हैं। यह शत्रु व मित्र के प्रति समान प्रेम रखते हैं। निन्दा व स्तुति में इनको कोई द्वैत नहीं दीखता। ये भूमि को निरख-निरख कर गमन करते है, भोजन भी देह धारण के अर्थ रसों से निर्पेक्ष खड़े-खड़े लेते हैं। जिनके मुख से जीवन कल्याण के सूत्रात्मक शव्द निकलते हैं, एक दो ही सच्चा जिज्ञासु जिनके पास पहुँच पाता है। जो कई-कई दिनों तक समाधि में रत रहते हैं। ये गर्मी व सर्दी में कृत्रिम उपायों से देह की रक्षा करने का उपक्रम नहीं करते। इनके पास तृणमात्र भी परिग्रह नहीं है। इनके पास अनेकों ऋद्धि होते भी उनका प्रयोग नहीं करते। इनके शव्द कभी भी राग वा द्वेष रूप नहीं निकलते। इनके रोम-रोम में वीतरागता की ध्वनि निकल रही है। तात्पर्य यह कि जो मनवचन व काय से समता की साधना करते हैं। अपने अन्तर जगत् में जागते हुए सहजानन्द के पान से तृप्त रहते हैं, ये ही सच्चे गुरू हैं व इनके दर्शन

से मेरा मन भी मानों जगत् को निस्सार देखने लगा है। इनके दर्शन मात्र से मानों मेरी सुप्त चेतना जगी जा रही है। वस! बस! मिल गए मुझे कुशल वैद्य। मिल गया मुझे कुशल खेवटिया। यही मेरी नौका को भवसागर से पार लगायेंगे। वस अब तो मानों मुझे प्रभु पद मिल गया। अव तो मेरा भव विनष्ट हो गया। जिस प्रकार वहुत देर से माता से विछुड़ा बच्चा माता की अनन्त सुखमयी गोद में जाकर विश्राम पाता है और अपने समस्त दु:खों को भूल जाता है ऐसे ही आज इन महाप्रभु को पाकर मेरे दु:खों का भी अन्त हो गया है। हे नाथ! अव मुझ अनाथ को ठुकराना मत। हे दीनवन्धु! अपना शीतल चरण-शरण देकर अव इसको भव की ज्वाला में पटकना मत। हे प्रभु! अमृत को पीकर कौन विषपान की इच्छा करेगा। हे देव! आप ही की कृपा के अभाव में आज तक जन्म-मरण की यातनाओं को सहता रहा आज आपके पवित्र दर्शन पाकर मेरे भव का अन्त आ गया है।

एक वार आदर्श गुरू की शरण को स्वीकार कर शिष्य अपने त्रिकरण सहित जीवन को उनकी चरण-शरण में डाल देता है। गुरू जो भी आज्ञा करे उसका पालन करना ही उसका दैनिक कर्मकाण्ड होता है। अव कदाचित कुछ प्रासंगिक औपचारिक गुरू में दोष होने पर भी शिष्य को वे दिखाई नहीं देते। गुरू तो उसको गुणों की मूर्ति दिखाई देता है। जिस प्रकार साक्षात कोढ़ी होते भी भक्त सेठ ने अपने गुरू को कोढ़ी स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था, क्योंकि उसकी तो कोढ़ पर दृष्टि ही नहीं थी, इसी प्रकार गुरू में गुण दर्शन ही गुरू श्रद्धा है। यदि शिष्य को गुरू में दोप दिखाई देते हैं तो गुरू का भी गुरू तो वह स्वयं वन वैठा। गुरू से सीखेगा क्या? जिस प्रकार माता की मार भी वच्चे के सुधार के अर्थ होती है उसी प्रकार किसी समय किया गया गुरू का कोप भी शिष्य की श्रद्धा एवं जिज्ञासा की परीक्षा लिये होता है। उसमें हर दृष्टि से शिष्य का कल्याण निहित है। जो खलग्राही शिष्य गुरू में दोप ग्रहण कर उसको त्याग देता है, वह

अपना ही अहित करता है। क्योंकि गुरू तो ज्ञानी होने से अपना कल्याण कर ही लेते हैं। साथ ही खलग्राही शिष्य से भी वच जाते हैं। परन्तु शिष्य गुरू लाभ से वंचित होकर पत्थर चुनकर ले जाता है जिससे निन्दा आदि कर्म से उसका पाप संचय होता है और उसके गुरुभार से उसका जीवन बेकार हो जाता है अर्थात् कल्याण की बजाय उसका अकल्याण हो जाता है और हित्त की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है क्योंकि दोष-दर्शन का संस्कार पुष्ट हो जाता है। परन्तु कल्याणकामी की दृष्टि गुरू की प्रत्येक क्रिया में अपने कल्याण के दर्शन करती है। जिस प्रकार अपनी माता सदोष होते भी प्रेममयी दीखती है वस उसी प्रकार अपने गुरू में भी गुणमूर्ति के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार माता की मार में भी हृदय में प्यार होता है उसी प्रकार गुरू के हृदय में भी शिष्य का कल्याण छिपा होता है। एक समय पिता अपने पुत्र का अहित वा पतन चाह सकता है, परन्तु गुरू अपने शिष्य का कल्याण वा उत्कर्ष ही चाहता रहता है। वह अपने शिष्य को अपने से अधिक देखना चाहता है। भले ही संसार में कितने महान-महान योगी रहे हैं परन्तु शिष्य की दृष्टि में अपने गुरू ही सर्वश्रेष्ठ होते हैं। मानों सर्व योगियों की गुण समृद्धि मेरे गुरू में ही खिच आई हो। जिस चन्द्रमा के समक्ष सर्व सितारे व जुगनू फीके लगते हैं। उसी प्रकार अपने गुरू के समक्ष सर्व गुरू सामान्य लगते हैं, क्योंकि वही मेरे आदर्श हैं। वे मेरे परम-पूज्य हैं।

जीवन में जैसे माता, पति व पिता एक होता है उसी प्रकार गुरू भी एक होता है। एक को छोड़कर दूसरे को गुरू वनाने वाले की दृष्टि चंचला वा व्यभिचारी कही जाती है। ऐसा शिष्य किसी को भी गुरू नहीं वना सकता अतः उसका भी कल्याण नहीं हो सकता। क्योंकि आज तो उसने यह गुरू वनाया और इसमें दोप देखकर छोड़ दिया और कल को दूसरे व तीसरे को भी इसी प्रकार छोड़ देगा। आखिर टिकेगा कहां जाकर ? "धोवी का कुत्ता घर का न घाट का" वाली लोकोक्ति चरितार्थ होगी वहां तो। अर्थात् उसका कोई भी गुरू न होगा, न वह किसी से लाभ ले सकेगा। भैय्या! मनोविज्ञान

को समझ। मन एक पर जब आस्थावान होता है और पूर्ण-निष्ठा से जब अपना सर्वस्व उन महायोगी के चरणों में समर्पण कर देता है, उसी क्षण शिष्य एकाग्रता को प्राप्त होकर समाधि को प्राप्त हो सकता है। तभी उसका चित्त विशुद्ध होता है, तभी गुरू रूप हिमाचल से अमृत शिष्य के हृदय रूप कुण्ड में पड़ता है। जिसको पीकर शिष्य अमर हो जाता है। उसकी सुप्त चेतना जाग जाती है। उसके हृदय चक्षु खुल जाते हैं। यही है आदर्श गुरू का भगवत्ता दान।

अनूठी भक्ति

जिस महाभाग्य भक्त के हृदय में प्रभु-भक्ति का उन्मेष हुआ है, जिसके हृदय में प्रभु का आवास हुआ है, जिसने नेत्रों से प्रभु को जीवित मुस्कराते देखा है, जिसने कानों से उनका ऊंकार नाद सुना है, जिसका तन प्रभु के स्पर्श से पवित्र हो गया है, जिसके हस्त प्रभु की सेवा से धन्य हो गये हैं, जिसकी जिह्वा प्रभु के पवित्र गुणों का गान करने से पवित्र हो गई है, जिसकी नाक प्रभु की चरण-रज की दिव्य गन्ध से आवासित हो गई है, वह भक्त भी पूज्य है, धन्य है, दुर्लभ है। वह भक्त भी भगवान है! भगवान भी उसके पदानुगामी हो जाते हैं। यह सत्य ही है।

जिसको प्रभु की दिव्य शक्तियों पर विश्वास है, जो प्रभु को पाषाण रूप में नहीं भगवान के रूप में देखता है, जो भगवान के साथ जीवितवत् व्यवहार करता है, उनके समक्ष जीवितवत् समझकर जाता है, जीवितवत् उनसे वार्तालाप करता है, उसी प्रकार उनकी सेवा करता है, तो भगवान भी उसको साक्षात् दर्शन देते हैं। अपने प्रिय भक्त के साथ जीवितवत् व्यवहार करते हैं। उसी प्रकार उससे बातें करते हैं तथा भक्त की रक्षा आदि किया करते हैं। जो इस प्रकार दिव्य-दर्शन करता है उसको ही विश्वास होता है। परन्तु जो इस प्रकार के अनूठे दर्शन नहीं करता है उसको न भगवान दर्शन देते हैं, न ही उसको इस पर विश्वास हो पाता है।

आज का चर्मचक्षु प्रधान मानव भगवान को पाषाण के रूप में ही देखता है, अतः उसको भगवान भी जड़ ही दृष्टिगत् होते हैं। वह भगवान के साथ पाषाण समझकर जड़वत् व्यवहार करता है। तो भगवान का व्यवहार भी उसके प्रति जड़वत् ही होता है। भला! जड़ देखने वाले को चेतन भगवान के दर्शन कैसे हो सकते हैं? उसको

भगवान की चेतन क्रिया कैसे दीख सकती है ? जो यूं कहता है "कि आज मन्दिर में कोई नहीं मिला।" अरे ! मूर्ख, तेरी बुद्धि पर पर्दा पड़ गया। जिन प्रभु के दर्शन करने गया, वे थे या नहीं ? यदि थे तो फिर कैसे कहता है कि "आज कोई नहीं मिला ?" तू जगत् के दर्शन करने जाता है तब ही तो उनके न मिलने पर मन्दिर सूना लगता है। यदि भगवान के दर्शन करने जावे तो फिर अन्यथा वाणी न निकले। अरे ! तीन लोकों के नाथ ! परम प्रभु तो वहां हैं, वह तुझे मिल गए। और क्या चाहिये ? जगत् जन। अरे ! वह तो जगत् में मन्दिर से बाहर बहुत हैं देख ले जी भर कर। यहां तो तू भगवान को देखने आया है ना परन्तु क्या करे ? अज्ञानता से तुझे भगवान दीख ही नहीं रहे, जड़ प्रतिमा दीख रही है। यह भगवान का दोष नहीं। तेरी दृष्टि का दोष है। यदि कोई स्थिर ध्यानस्थ योगी को देखकर उसे जड़ समझ ले तो उससे योगी जड़ नहीं बन जायेगा तथा क्रिया भी न करेगा वह भी स्थिर बैठा रहेगा। परन्तु कोई भक्त आकर विनय करने लगे तो उसके उपकार के अर्थ योगी की निरिच्छक वाणी खिल उठती है। बस इसी प्रकार भगवान भी जड़बुद्धियों व अभक्तों के समक्ष स्थिर बैठे रहते हैं परन्तु सद् भक्तों के समक्ष ही उनमें चेतन क्रिया होती है। वे भक्त की भक्ति के वश में होकर प्रगट हो जाते हैं। जिसको सत्य ही कहा है कि "भगत के वश में हैं भगवान्।"

भैय्या ! यह भगवद् विग्रह अब पाषाण नहीं है। अब यह जीवित भगवान् हैं, क्योंकि इसमें मन्त्र द्वारा तथा भावों द्वारा प्राणों का संचार कर दिया गया है। इसमें भी चेतनवत् क्रिया होती है। कोई माने वा न माने, परन्तु होती अवश्य है। किसी के न मानने से उसका होना असिद्ध नहीं हो सकता। भले एक भी न माने। कोई भी इसको अनुभव करके देख सकता है। परन्तु देखने से पूर्व उसको वैसे भाव बनाने होंगे। कौतूहल से भगवान की परीक्षा करने लगेगा तो दर्शन न मिलेंगे। क्योंकि भक्ति नहीं है, वहां तो भगवान का भी परीक्षक भगवान तो आप स्वयं बन बैठे, ऐसे तो भगवान आकृष्ट न होंगे। अभक्त को दर्शन नहीं मिला करते। भक्ति व सच्ची आस्था में ही ऐसा चमत्कार है कि जो भगवान को प्रगट होने अर्थात् चेतनवत् क्रिया

करने को बाध्य कर दे। भक्त तो नित्य ही भगवान के दर्शन करते हैं और तृप्त रहते हैं। अतः आप अपने हृदय को पहले श्रद्धा रूपी जल से पवित्र करके उसमें भक्ति का मनोमय आसन बिछाइये, तब ही भगवान उस पर आकर विराजेंगे।

ऐसे दृष्टान्त भी बहुत उपलब्ध हैं जबकि प्रतिमायें मुस्कराती देखी गई हैं। आज से लगभग चार वर्ष पूर्व अखबार में आया था कि कलकत्ता के पास एक ग्राम में एक प्रतिमा से अविरल अश्रुधारा जारी है, जो कि निरन्तर कई रोज तक रही। लाखों व्यक्ति कौतुहल से परीक्षार्थ गए और घटना सत्य पाई। महावीर जी जैसे अतिशय क्षेत्र की घटनायें साधारण जनों को विदित ही हैं। इस प्रकार की बहुत सी विचित्र अनहोनी बातें घटती देखी जाती हैं। समन्तभद्र आचार्य के सम्बन्ध की एक ऐसी ही घटना है। उनको एक बार किसी देवता के विग्रह को नमस्कार करने को कहा गया। उन्होंने कहा कि यह विग्रह मेरी वन्दना को सहन न कर सकेगा। परन्तु हठात् उनसे नमस्कार कराया गया फल स्वरूप वह विग्रह फट गया और उसमें से अष्टम जिनेन्द्र की प्रतिमा प्रगट हो गई। इस प्रकार भाव शक्ति के द्वारा जड़ में भी क्रिया होती है।

इसी प्रकार की एक कथा है, जिसमें भाव की अद्वैतता तथा विचित्र भक्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। कोई विश्वास करें वा न करे परन्तु वैसे भाव होने पर साक्षात् प्रभु के दर्शन हो अवश्य सकते हैं। एक समय एक पुजारी था। वह नित्य मन्दिर में भगवान का अभिषेक व पूजन करता था। उसका छोटा लड़का भी सभी क्रियायें खूब गौर से देखा करता था। एक बार पुजारी अपने लड़के को पूजा का भार सौंपकर प्रदेश चला गया। पीछे बच्चा पिता की आज्ञानुसार सवेरे जल्दी उठकर जल भर लाया तथा सामग्री तैय्यार की। भगवान का अभिषेक कराकर उसने सामग्री चढ़ाई और भगवान से प्रार्थना की कि "भगवान खाओ।" बेचारा मासूम बच्चा क्या जानता था कि भगवान खाते नहीं हैं। सोचने लगा कि भगवान ने सामग्री स्वीकार

नहीं की है, अवश्य इसमें कुछ अशुद्धि होगी। जल्दी-जल्दी जाकर दुवारा सब सामग्री तैय्यार करके लाया और भगवान से खाने के लिये प्रार्थना करने लगा। परन्तु वहां कौन बोले। बालक ने सोचा कि अरे, पहले बड़े भगवान को खिलाओ और पीछे छोटों को। अतः जलाई गई धूप का धूआं भी पहले बड़े भगवान की नाक में जाना चाहिये। ले आया रूई उठाकर और लगा दी सब छोटी प्रतिमाओं की नाक में और प्रार्थना करने लगा बड़े भगवान के समक्ष। परन्तु तब भी कोई क्रिया न हुई। भगवान को जीवित समझने वाला वह भक्त बालक अपनी कोई त्रुटि न देखकर भक्तिवश विवेक खोकर उठा लाया मूसल और कहने लगा कि भगवान या तो खालो नहीं तो देखो मूसल। जैसे माता उसके साथ व्यवहार करती थी, ठिठाई करने पर वैसा उसने भगवान के साथ किया। भक्त वत्सल भगवान का हृदय रह न सका। प्रतिमा में से भगवान प्रगटे। बस अब क्या बालक के हर्ष का पारावार न रहा। अब तो गुरू हाथ लगा, छोटी प्रतिमाओं के साथ भी यही व्यवहार। रोज इसी प्रकार करता। एक महीना होने पर पुजारी लौटकर आया और बच्चे से कुशलता पूछी। बच्चे ने कहा "पिता जी! बहुत आनन्द से रहा। परन्तु इतनी बात है कि आगे से आप कहीं जाया करें तो सामग्री अधिक मात्रा में रख जाया करें। क्योंकि इतने तो बड़े भगवान और इतने सारे छोटे भगवान सबके लिये तो घना ही चाहिये। अब की बार मुझे दुकान से उधार लाना पड़ा।" पिता ने कहा, "भोले बेटा! भगवान खाते हैं, उनके आगे तो चढ़ा दिया जाया करता है यूंही।" परन्तु बच्चा प्रत्यक्ष दर्शन न होने को कैसे स्वीकार कर सकता है। वह भी अपनी हठ पकड़े रहा। अगले दिन पुजारी ने अभिषेक करके सामग्री चढ़ाई, परन्तु भगवान के स्वीकार न करने पर बालक को बुलाया। बालक भी विश्वास पूर्वक प्रार्थना करने लगा परन्तु असफल जान फिर मूसल उठा लाया। भगवान भी भक्ति से विवश होकर प्रगट हुए और उसकी पूजा को स्वीकार किया। तब पुजारी की आंखें खुल गईं कि सच्ची भक्ति व

उपासना किसे कहते हैं ? आज उसको भी आ गया भगवान के जीवित विग्रह पर विश्वास ।

यह यद्यपि एक कथा है बच्चों को सुनाने की । इस पर सुनने मात्र से विश्वास नहीं हो सकता जब तक प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता । आप पहले भगवान को जीवित समझिये । पाषाण दृष्टि छोड़ दें । तब आपकी श्रद्धा ही साक्षात रूप धारण करके प्रगट होगी । भाव बनाइये तब ही भाव का दर्शन होगा । ऐसी अनूठी भक्ति उत्पन्न करें तब ही अनूठे दर्शन होंगे ।

अणुव्रत की झलक

जो कण-कण में उस चिदानन्द भगवान के दर्शन कर रहा है, जिसकी आंखों के समक्ष सदा उसकी आनन्दमय मूर्ति नृत्य कर रही है, जो एक कीट में व मनुष्य में भेद नहीं देखता, जिसको घास के एक तृण में भी उसी प्रकाशवन्त तत्व का तेज दमकता प्रतिभासित होता है, जिसको अपने जैसे ही प्राण सबमें दीखते हों ऐसा वह विवेकवान किसको कष्ट पहुँचा सकता है? वह तो सबको सुखी करना चाहता है सबकी पूजा करना चाहता है। दूसरों को कष्ट पहुँचाने की बात तो दूर की है, दूसरों की पीड़ा में वह स्वय विह्वल हो जाता है, मानो कि उसी को पीड़ा हो रही हो। अतः वह पर-पीड़ाहरण ऐसी समस्त पाप क्रियाओं से विरक्त हो जाया करता है। वही वास्तव में व्रती कहलाता है।

भाव की महिमा है। ज्ञानी हो कि अज्ञानी सभी जीव अपने अपने भावों के कर्ता हैं और उसी के भोक्ता हैं। पदार्थों के भोक्ता नहीं हैं और न ही उनके कर्ता। स्वादिष्ट भोजन करते हुए भी जब आपका मन उस तरफ न हो तो आपको स्वाद नहीं आता। पं० टोडरमल जी को गोम्मटसार की टीका लिखते समय छः महीने तक अलूना भोजन करते हुए भी पता न लगा। यदि जीव पदार्थ का भोक्ता होता तो उनको पता लगना चाहिये था। वास्तव में वह अपने भाव का भोक्ता है। भाव जहाँ लगा है उसी का आनन्द आता है। कल्पना में ही अमृत का पान करने पर सचमुच अमृतपान का आनन्द आ जाता है। कल्पना में ही प्रेमी के मर जाने पर दुःख का वेदन होने लगता है। अतः प्रत्येक मनुष्य अपने सुख-दुःख परिणाम का भोक्ता होता है। उस परिणाम का नाम ही आत्मा है। सभी आत्मा का अनुभव कर रहे हैं परन्तु उनके साथ में संकल्प-विकल्प व राग द्वेष रूप भावात्मक ही मल

उत्पन्न कर लेने के कारण शुद्ध स्वभावी आत्मा का आनन्द नहीं आ पाता। इसी से यह प्रतीत होता है कि मुझे आत्मानुभव नहीं है अथवा आंख मीचने पर अन्धकार दीखता है। भैय्या! आत्मा भौतिक प्रकाश रूप नहीं है और इसलिये वह इन चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं देगी। वह तो वेदन रूप है अतः विकल्पों को छोड़ देने पर ज्ञान आनन्द रूप से वेदन की जायेगी। अतः राग-द्वेष, संकल्प-विकल्पों को हटा। देख! आत्मा तो अभी भी अनुभव में आ रही है। वह जा कहां सकती है?

उन विकल्पों से निवृत्ति पाने के लिए ही पहले अधिक सन्ताप जनक पापों का त्याग करें, क्योंकि मेरा रोग भावों में है अतः उसकी निवृत्ति भी भावों में ही करनी होगी। भावों में पाप निवृत्ति होने पर बाहर में अवश्य ही निवृत्ति हो जायेगी, परन्तु भावों में निवृत्ति नहीं होने पर बाहर में हो अथवा न हो उससे अपना कोई प्रयोजन नहीं। वह तो दूसरे के भाग्य पर निर्भर करता है। मैंने किसी को मारने के भाव किये इससे मुझे तो सन्ताप हो गया अतः आत्म हिंसा तो हो गई, भले कोई जीव मरे अथवा न मरे। दूसरे जीव का मरना उसके आयु कर्म पर निर्भर है, अतः भाव प्रमुख हैं। यदि मारने के भाव नहीं हुए, फिर भी कोई जीव पांव के नीचे आकर मर गया, तब भी हिंसा है परन्तु किसी ने सावधानीपूर्वक कार्य किया तब बचाते-२ कोई जीव आकर मर गया वहां आपको हिंसा नहीं है। इसलिये सूत्रकार ने 'प्रमत्त योगात्' यह विशेपण दिया है। इन भावों की सम्भाल करनी है। पाप पांच कहे हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह। हिंसा का अर्थ यह नहीं कि किसी को जान से मार देना ही हिंसा कहलाये। इसका अर्थ अत्यन्त व्यापक है। प्राण दस होते हैं—पांच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, आयु व श्वासोच्छवास। इन दस प्राणों में से किसी एक भी प्राण का घात करना हिंसा है। मन-वचन काय की असावधान प्रवृत्ति से किसी भी जीव का घात होना, अथवा न होना सो हिंसा। कोई भी ऐसी प्रवृत्ति जिससे किसी के प्राणों का घात होता हो वह न करे। इसकी कसौटी है कि जो क्रिया हम दूसरों से अपने लिए नहीं चाहते वह हम भी किसी के लिये न करें।

अर्थात् आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषाम् समाचरेत्।

हिंसा भी चार प्रकार की होती है—आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी। गृहस्थ में भोजन बनाने व बैठने-उठने आदि में जो पृथ्वी-जल-अग्नि वायु व वनस्पति तथा त्रस जीवों की विराधना होती है उसको आरम्भी हिंसा कहा जाता है। विभिन्न प्रकार के व्यापार में जो जीवों की विराधना होती है उसको उद्योगी हिंसा कहा जाता है। अपने देश-जान व माल पर कोई शत्रु चढ़कर आवे तो उसको विरोधी हिंसा कहा जाता है। व्यर्थ में ही किसी को "मैं इसे मारूँ" ऐसे संकल्पपूर्वक मारने का भाव करना सो संकल्पी हिंसा कहा जाता है। वह जीव भले ही जीवित हो अथवा खाण्ड व काष्ठ का भी क्यों न हो। उसके प्रति "मैं इसको कच्चे को खा जाऊंगा, अथवा देखो! इसकी टांग तोड़ता हूँ" यह सब संकल्पी हिंसा कहा जाता है। क्योंकि भावों में उसी प्रकार की क्रूरता उत्पन्न होती है। गृहस्थ की इस अल्पभूमिका में प्रथम तीन हिंसाओं का त्याग सम्भव नहीं। परन्तु त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग अवश्य किया जा सकता है। पहली तीन हिंसाओं के प्रति भी सावधानी रखने से प्रमाद को दूर भगाकर वर्तन करने से बहुत अंश में पाप से वचा जा सकता है क्योंकि मूल रूप से प्रमाद ही हिंसा है। जो भोजन वनाने में वस्तुओं को उठाने में जीवों के बचाने का विवेक रख रहा है वह निरन्तर दया व प्रेम की उपासना कर रहा है। अतः वह स्व अहिंसा के साथ-साथ जीव अहिंसा का पालन करने से अहिंसक ही है।

क्रोध-पूर्ण, लोभ व भय के तथा व्यंग्य के पर-पीड़ाकारक वचनों का त्याग करना, सदा हितकारी वोलना। सीमित वोलना ही सत्य वचन है। इस दिशा में मौन पालन अत्यन्त सहकारी रह सकता है। जो निरन्तर अनर्गल वोलता है वह अशिष्ट व अहितकारी वचन पर काबू नहीं कर सकता। अधिक वोलने में दूसरे की निन्दा, चुगली व्यर्थ की वातें ही होती हैं जिनसे अपना कोई भी प्रयोजन नहीं होता। मौन रखने से मानसिक सन्तुलन रहता है। अतः कम वोलने का अभ्यास करना चाहिये। कम वोलने से मानसिक शक्ति भी अधिक

खर्च नहीं होती। हित-मित व सीमित बोलने वालों को वाक् सिद्धि ऋद्धियों की प्राप्ति हो जाया करती है। शास्त्र के अनुकूल ही वचन बोलना चाहिये। स्वार्थ व पक्ष के कारण आगम के विपरीत वचन असत्य कहलाते हैं। किसी के गुप्त रहस्य को प्रगट करना विश्वासघात है, किसो की धरोहर को मार लेना अथवा कम देना सो झूठ है। किसी को बातें करते देखकर उसके हाथ आदि के इशारों पर से उनकी बात जानकर प्रगट कर देना वह असत्य है। तात्पर्य यह है कि जिस वचन से किसी के प्राणों का घात होता है वह असत्य है। ऐसे परपीड़ाकारक वचनों का त्याग करना चाहिये। अशिष्ट, अश्लील व गाली रूप वचन भी असत्य कहे जाते हैं, ऐसी कौत्कुच्य पूर्ण भाषा का त्याग करना चाहिये। गृहस्थ में रहते इस प्रकार की अनर्गल भाषा का त्याग किया जा सकता है, इसके त्याग से गृहस्थ में कुछ हानि भी नहीं पड़ती है। सम्यग्दृष्टि तो स्वेच्छा से इनका त्याग करता है। यह गृहस्थ का द्वितीय सत्याणुव्रत कहलाता है।

तीसरा अणुव्रत है अचौर्य। लोक प्रसिद्ध चोरी व डाके की तो बात नहीं है, यहां तो इससे आगे की बात है। घर में भी बिना दी किसी की चीज ग्रहण करना चोरी है। इसलिये सूत्रकार का सूत्र है—'प्रमत्तयोगात्···अदत्तादान स्तेयं।' प्रमाद के योग से किसी की बिना दी चीज को ग्रहण करना चोरी है। इसका यह अर्थ नहीं कि घर की समस्त चीजें मांग-मांगकर ग्रहण करो। घर में जिन वस्तुओं को लेने का सबका अधिकार है, तथा जिसको लेने में दूसरों का कोई प्रतिबन्ध व हस्तक्षेप सम्भव नहीं है वह चोरी न होगी। यह तो विवेक की बात है। हो सकता है कि मांगकर ली गई चीज भी चोरी में सम्मिलित हो जाये। जैसे आपके मित्र वा सम्बन्धी के पास कोई वस्तु है। उसको देखकर आपने कहा कि यह वस्तु अत्यन्त प्रिय मालूम होती है। आपके शब्द सुनकर यद्यपि मित्र वा सम्बन्धी उस वस्तु को हृदय से आपको देना नहीं चाहता परन्तु ऊपर से कह देता है कि आप ले लो। आप यदि उस वस्तु को ग्रहण कर लें तो चोरी है। क्योंकि दाता के प्राणों का घात हो रहा है। चोरी करने के प्रयोग बताना, चोरी का माल खरीदना, टैक्स आदि की चोरी करना, माल कम तोलकर

देना तथा लेते समय अधिक लेना, कीमती चीज में घटिया मिला देना, रेल में जाते समय अधिक स्थान रोककर बैठना वा धर्मशाला के कमरों को अधिक रोक लेना, सब चोरी के अन्तर्गत हैं। गृहस्थ जल व मिट्टी के अतिरिक्त दूसरे की बेईमानी से वस्तु को ग्रहण न करें वही उसका अचौर्याणुव्रत है। अणु इसलिये है क्योंकि पूरा व्रत नहीं लिया है। जल व मिट्टी भी वही ग्रहण करे जिस पर दूसरे का अधिकार न हो। यदि किसी के घर में मिट्टी रक्खी हो और उसका ग्रहण करे तो चोरी है।

आज अन्य चोरी व ब्लैक मार्केट तो चलती है। परन्तु जिस सम्बन्ध को अत्यन्त पवित्र माना जाता है, उसमें चोरी का साम्राज्य है। जिस कन्या को गृह-लक्ष्मी कहा जाता है, जो विश्व की माता हैं, जो सृष्टि की निर्माता, धाता व हाता है उसके जन्म के अवसर पर शोक मनाया जाता है क्योंकि उसके विवाह की समस्या को लेकर वह मां-बाप के लिये भार बनकर आती है। उसके विवाह में करोड़ों की सम्पत्ति नकद दी जाती है। उस पैसे को ग्रहण करने वाला चोर है, क्योंकि जबरन ली जाती है उससे लड़की के मां-बाप को संताप होता है। इसी पैसे के कारण वर-वधु का जोड़ा ठीक नहीं मिलता। दम्पत्ति में प्रेम नहीं हो पाता। उनका जीवन विगड़ जाता है। यह बीमारी जैन समाज में विशेषकर फैलती जा रही है। इसकी रोकथाम होनी चाहिये।

सुख की ओर—

पहला कदम

जीवन नाम आनन्द का है। वह आनन्द दो प्रकार का है—विषयानन्द व आत्मानन्द। विषयानन्द क्षणिक है जबकि ब्रह्मानन्द अविनाशी। विषयानन्द सीमित है जबकि ब्रह्मानन्द असीम। विषयानन्द पराश्रित जबकि ब्रह्मानन्द स्वाश्रित। विषयानन्द इन्द्रियाधीन है जब कि ब्रह्मानन्द अतीन्द्रिय। विषयानन्द बाधा सहित है जबकि आत्मानन्द निरबाध। अतः विषयानन्द क्षणिक, सीमित, पराश्रित, इन्द्रियाधीन, तथा बाधा सहित है, परन्तु ब्रह्मानन्द अविनाशी, असीम, स्वाश्रित, अतीन्द्रिय तथा निरबाध है। वास्तव में ब्रह्मानन्द ही विषयानन्द का मूल स्रोत है, जिसको हृदय में छलछलाते समुद्र के पान से ब्रह्मानन्द प्राप्त हुआ है, जिसको तनिक आस्वाद की दिव्य झलक आई है, जिसको आत्मा के पावन दर्शन हुए, जिसने अपनी विभूति को पहिचान लिया है, जो एक क्षण के लिये आत्मिक आनन्द में झूम गया है, वह क्षणिक आनन्द उसको विषयों से विरक्त कर देता है। अब उसका मन स्वयं ही विषयों से रञ्जायमान नहीं होता है। वह क्षणिक आस्वादन भीतर में बैठा-बैठा चुटकियें भरा करता है कि तू हट। एक क्षण भी इस वैषयिक वातावरण में मत रह, इनका संसर्ग अब उसको तृप्त करने में समर्थ नहीं होता। जो विषय पहले उसको अच्छे लगते थे आज अपने परम पदार्थ को पा लेने पर उसके मन को मोहित करने में पूर्ण सफल नहीं होते। आज उसका मन किसी दूसरे लोक में ही वास करता है, वह इस दुनिया में रहता हुआ भी अपनी पृथक् दुनियां बसा लेता है जिसको वह ही जान सकता है। अन्य जन क्या जाने उसके हृदय के आलोक को।

आत्मा की चर्चा सब करते हैं, आज के युग में विशेषतयः इसका प्रचार है। परन्तु शब्दों के आडम्बरों का बोझ मन पर लाद देने से

आत्मदर्शन सम्भव नहीं होता। शास्त्रों के पन्नों को रट लेने पर परमात्मा तक नहीं पहुँचा जा सकता। रोटी व पेड़े के शब्दों को गा लेने मात्र से पेट नहीं भर जाता। रोटी व पेड़े को खाने से ही क्षुधा की तृप्ति होती है। परन्तु रोटी व पेड़ा वहे विना जाना नहीं जाता। विना जाने प्राप्त करके खाना तथा शान्ति प्राप्त करना भी सम्भव नहीं है। परन्तु रोटी कहते ही प्राप्त भी नहीं हो जाती, उसको प्राप्त करने के लिये पहले सच्ची रुचि व श्रद्धा जागृत करनी पड़ती है कि रोटी से मेरी क्षुधा शान्त होगी। ऐसी श्रद्धा बना लेने से भी सहसा रोटी प्राप्त नहीं हो जाती उसके लिये बराबर पुरुषार्थ करना पड़ता है धन कमाने का। धन भी फैक्ट्री लगाते ही प्राप्त नहीं हो जायेगा उसमें भी समय लगेगा। तात्पर्य है कि केवल आत्मानन्द की रसभरी एवं मधुर बातें पढ़ने व सुनने मात्र से उसकी प्राप्ति नहीं हो जायेगी अपितु आत्मानन्द को हृदय में खोज करके उसके आस्वादन करने से ही अनादि की वेदनायें व सन्ताप शान्त होंगे। उसी आनन्द में खो जाने से ही मधुर अक्षय सुख का आस्वाद आयेगा। वहां आत्मा की कथा स्मरण नहीं करनी होगी। शब्दों का जन्जाल जब तक मस्तिष्क को बोझल बनाये हुए है तब तक आत्मा का आभास नहीं हो सकता। शब्दों का आश्रय छोड़कर ही आत्मार्थ को प्राप्त हो सकेंगे। इसका यह अर्थ नहीं है कि शब्द फिर पढ़े ही न जायें ? वास्तव में शब्द पढ़ कर भूल जाने के लिये हैं। अर्थात् शब्द को पढ़ कर वाक्यार्थ आत्मानन्द एवं ब्रह्मानन्द को प्राप्त करना है। शब्दों में अटके नहीं रहना है।

हृदय में आत्मानन्द की एक मधुर एवं तृप्तिकर झलक आ जाने पर, एक क्षण को उस दिव्यालोक का आभास हो जाने पर, एक बार परम पिता की शरण को प्राप्त हो जाने पर उसका संसार फीका पड़ जायेगा। उसको पाप से भय लगने लगेगा। यद्यपि पूर्वाभ्यास वश उससे पाप होंगे, परन्तु वह पाप के प्रति ग्लानि करेगा। उसके हृदय में उस पाप के प्रति पश्चाताप की अग्नि प्रज्ज्वलित हो जायेगी। जिस से उस पाप के पश्चात ग्लानि व शोक से उसका हृदय संतप्त हुआ करेगा। वह पुनः पुनः हृदय में अपनी निन्दा करेगा। अपने दोषों को

बाहर में ही प्रगट करेगा। यही उस आत्म दृष्टि का अन्तरंग चारित्र होता है जिसको आगम में निन्दा-गर्हा नाम से कहा गया है। यद्यपि, वह बाहर में कोई भी व्रत व त्याग धारण नहीं कर पाता, परन्तु पाप के प्रति ग्लानि तथा संयम धारण के प्रति उसके हृदय में छटपटाहट रहा करती है। जिस पूर्व संस्कार व कषाय के उद्रेक से भरत चक्रवर्ती ने भाई पर चक्र चला दिया, परन्तु हृदय में बराबर ग्लानि हो रही थी, उनका हृदय उनको धिक्कार रहा था, रो रहा था तथा कह रहा था कि "तू अच्छा नहीं कर रहा है। तूने बहुत बुरा कार्य किया है, तुझे ऐसा नहीं करना चाहिये, तू पागल हो गया है। तेरी जगत में निन्दा होगी, तुझे धिक्कार है, ऐसा दुष्कर्म करते तुझे शर्म नहीं आती" आदि-आदि उसके चित्त में नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न हो रहे थे। जबकि बाहर में वह सर्व कर्म कर रहा था। यह एक हृदय का भाव है, जिसको वही जान सकता है, दूसरा कोई नहीं। मुंह से कहने मात्र से इसकी सिद्धि नहीं होती। न वह मुंह से कहता है। आज भी सभी व्यक्ति जो थोड़ा कुछ भी अध्यात्म का विषय सुन लेते हैं वह कहते हैं कि हम घर में रह रहे हैं परन्तु हमारा मन नहीं, घर में रहते पाप बन जाते हैं परन्तु क्या करें, ये पाप कैसे छूटेंगे, आदि-आदि। इस पर उनकी निन्दा-गर्हा सच्ची नहीं मानी जानी चाहिये क्योंकि उसके शब्दों पर से ही उसके हृदय का भाव झलक रहा है। वह कहता है "क्या करूं मुझसे पाप होता है, मैं करना नहीं चाहता" जब कि सम्यग्दृष्टि कहता है कि मैं यह पाप कर रहा हूँ, यह कैसे छोडूं ? साधारण व्यक्ति कहता है कि मुझसे पाप होते हैं जबकि दूसरा कहता है कि मैं करता हूँ। पहला अपने को वैरागी बनाकर पाप को कर्म पर डालता है जबकि दूसरा उसको अपना दोष बताकर छोड़ना चाहता है। इसी त्याग की भावना से वह आंशिक त्याग करता हुआ एक दिन पूर्ण पापों का त्याग कर देता है परन्तु लौकिक जनों को वैराग्य कदाचित् श्मशान में जाते समय हो जाता है कि "अरे! क्या रक्खा है इस संसार में। कुछ भी साथ नहीं जाता, सब धन कुटुम्ब यहीं पड़ा रह जाता है, चार दिन का मेला है, यूंही व्यक्ति पचता फिरता है। धर्म ही एक साची है। अतः उसी की शरण लेनी चाहिये।

क्या करूं न मालूम क्यों फिर भी कर्म मुझे गृहस्थी में खेंचे लिये जा रहा है, इसको श्मशान वैराग्य कहते हैं। कोई वेदना में आतुर होकर गृहस्थ छोड़ने की वात कहता है तो कोई कलह क्लेश से दुखी होकर घर को दुःखदायक वताता है। कोई धन के अभाव होने पर विषयों से विरक्ति प्रकट करता है। कोई पति, पत्नी पुत्र आदि की अनुकूलता न होने पर विरक्ति भाव वनाने का स्वांग वनाता है, वहां पर सच्ची विषय निन्दा नहीं अपितु प्रसंगवश हो रही है, हृदय में तो उन पाप व विषयों के प्रति आसक्ति पड़ी है। सभी विषय आदि प्राप्त हों तो भूल जाये वैराग्य को। परन्तु आत्मानुभवी हृदय से उनके प्रति ग्लानि प्रगट करता है, इसलिये वह उनको भोगता हुआ भी नहीं भोगता है। इसी भाव के कारण उसकी अशुभ गतियां टल जाती हैं जिसको छह-ढाला में कहा भी है--

प्रथम नरक विन षट् भू ज्योतिष वान भवन षंड् नारी।
थावर विकलत्तय में नाहीं उपजत सम्यक्धारी॥

उपरोक्त प्रकार से उस आत्मानुभोक्ता की संक्षेप में अव्रत अवस्था कही। इसमें यद्यपि उसके कोई व्रत नहीं होता परन्तु सामान्यतः वह पंच पापों का त्यागी होता है। उसमें उसको कषायोद्रेक से दोष लग जाते हैं जिनके प्रति उसको पश्चाताप होता रहता है। वह पाप उसको खटकते रहते हैं। उस पश्चाताप से ही वह पाप से हटने के लिये निरन्तर पुरुषार्थ करता रहता है। यद्यपि हृदय में वह यह चाहता है कि पूर्ण विशुद्ध हो जाऊं मुझे कोई भी संस्कार की शक्ति मेरे आनन्द से च्युत करने में समर्थ न हो सके, वाहर की भूख प्यास, सर्दी-गर्मी, व विषयारति तथा रागादि कषाय उस चिदानन्द में विघ्न न डालने पावें। मैं सर्व पर विजय प्राप्त कर लूं। मैं पूर्ण आनन्दघन हो जाऊं। शरीर के सुख-दुःख के प्रति निस्पृह हो जाऊं। शारीरिक आवश्यकताओं से पूर्ण उपेक्षित हो जाऊं। पूर्ण निर्मोह होकर आत्मगुप्त वन जाऊं। परन्तु एक दम वैसा वन जाना असम्भव है, क्योंकि अभी तक तो देहात्म बुद्धि से शरीर व विषयों में रति करता आया था, भावतम कषायों का ही अभ्यास

किया था। वे आज आकर उसको बेचैन कर देती हैं, तब वह चाहता हुआ भी ब्रह्मानन्द में स्थिरता व विशुद्धता प्राप्त नहीं कर पाता है। यदि वह कदाचित हठात् प्रयत्न भी करें तो विषयों के अभ्यासी शरीर का असमय में पात हो जायेगा, जिससे उसकी ब्रह्म साधना का मार्ग भी लुप्त हो जायेगा। अतः वह क्रम-पूर्वक अपनी शक्ति का सन्तुलन करते हुए अपना आत्मिक बल बढ़ाता जाता है और एक दिन वह पूर्ण ब्रह्म बन जाता है। देखिये लौकिक जीवन में भी यही है जिस प्रकार कोई समझे कि मुझे डाक्टर या इन्जीनियर बनना है, वह ऐसा संकल्प करते ही नहीं बन जाता, अपितु धीरे-धीरे अध्ययन व अभ्यास के पश्चात वह अपने लक्ष्य में सफल हो पाता है। इसी प्रकार आज आप समझते हैं कि लौकिक सुख में सुख है उसे प्राप्त करो। तब आप उस सुख के प्रति श्रद्धालु बनकर धन का व्यापार करते हैं। फैक्ट्री लगाते हैं, उसमें पूर्वार्जित कुछ पून्जी लगाते हैं। उसमें हो सकता है कि हानि भी हो जाये परन्तु आपको विश्वास तो लाभ का ही होता है। परन्तु कदाचित हानि ही हो जाये तो क्या व्यापार छोड़ देते हैं? नहीं! अपितु अधिक परिश्रम से काम करते हैं। क्या एक दम आप करोड़पति बन जाते हैं? नहीं। बहुत धीरे-धीरे लाभ होते-होते ही करोड़पति बन पाते हैं बस जब भौतिक धन ही एक दम अर्जित नहीं किया जा सकता है। तब अदृष्ट आत्म विशुद्धि को एक दम कैसे प्राप्त किया ज़ा सकता है, जिसका कि अभ्यास भी नहीं है। यकायक शरीर व कषायों पर विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है? ऐसा भी नहीं है कि असम्भव हो? योगी जन भी तो हमारी अवस्था से ही क्रम-पूर्वक अभ्यास करते-करते पूर्ण विशुद्ध हो गए हैं। अतः उन पापों को त्याग करने में भी समय लगेगा। उसमें भी क्रम से अभ्यास द्वारा सम्पन्न हो सकेगा।

उस क्रम को गृहस्थावस्था से प्रारम्भ करके संन्यासी की अवस्था तक ११ विभागों में विभक्त किया है जिनको आगम में श्रावक की ग्यारह प्रतिमायें कही जाती हैं। स्थूल रूप से ११ हैं, परन्तु सूक्ष्मता में प्रवेश करें तो एक-एक प्रतिमा के प्रारम्भ से अन्त तक अनेकों भेद कर

सकते हैं। 'प्रतिमा' शब्द का अर्थ भगवान की मूर्ति के अर्थ में नहीं है अपितु इसका अर्थ है जीवन में वैराग्य की प्रथम झलक। झलक भी तो उस वैरागी के जीवन में मूर्तिमान ही होती है। इसलिये कहा जाता है कि वैराग्य के प्रथम अंश की यह जीव जीती जागती साकार मूर्ति है, प्रतिमा है अथवा अन्तरंग के परिणामों की क्रमिक विशुद्धता तथा बाह्य में विषय त्याग की वह ११ अवस्थायें हैं। यद्यपि प्रतिमा नाम सम्यग्दर्शन होने पर ही प्राप्त होता है जिसको आत्मदर्शन नहीं हुआ वह कितना भी बाह्य त्यागी हुआ हो, उसने कैसे भी वेश बनाया अर्थात् उसने वैराग्य की भले ११ वीं मूर्ति अथवा अवस्था एवं वेष बनाया हो, तब भी उसको वह प्रतिमा धारक नहीं कहा जायेगा। क्योंकि सम्यग् आत्मदर्शन होने पर ही उसके हृदय में समीचीन विषय विरक्ति जागृत होती है। परन्तु जिसने बाह्य में विषय त्याग नहीं किया हो तो उसको उस प्रतिमा के परिणाम का धारक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि परिणामों में उतनी डिग्री की विशुद्धता तथा विषय विरक्ति बढ़ जाने पर भी उन विषयों में रति रहे ऐसा सम्भव नहीं है। परिणामों में उतने डिग्री की विशुद्धता होने पर बाह्य में उतने अंश में त्याग अवश्य होगा। बाह्य में त्याग हो तो अन्तरंग में विरक्ति हो भी अथवा न भी हो। परन्तु बाह्य में विषयरति है तो अन्तरंग में विरक्ति नहीं कही जा सकती। वास्तव में परिणामों की विशुद्धि की तरतमताओं का नाम प्रतिमा है, परन्तु उसका रूप बाह्य के चिह्नों पर से ही पहिचाना जाता है, क्योंकि परिणामों की पहिचान क्रिया पर से होती है, सूक्ष्म परिणाम साधारणतः पहचाने नहीं जा सकते। अतः प्रतिमाओं के लक्षण बाह्य त्याग पर से किये हैं। त्याग पर से वैसे-वैसे परिणाम वा आत्मविशुद्धि समझनी चाहिये, केवल बाह्य त्याग नहीं। त्याग करने वाले को भी हृदय में वैसे परिणाम बनाने चाहियें केवल त्याग करके जीवन को क़ैदी नहीं अथवा नियमों में जकड़ जन्द नहीं। केवल बाह्य त्यागी कहेगा कि इस प्रतिमा में अमुक विषय ग्रहण नहीं कर सकते, जबकि वैरागी कहेगा कि परिणामों की इतनी डिग्री की विशुद्धता में ये विषय ग्रहण नहीं होते। पहले

वाक्य में विषय ग्रहण में मन आसक्त है परन्तु हठपूर्वक उस पर प्रतिवन्ध लगाया जा रहा है जो 'सकते' शव्द पर से प्रतिध्वनित हो रहा है। दूसरे वाक्य में 'होते' शव्द पर से प्रतिभासित होता है कि सहज रूप से स्वयं विषय ग्रहण होता नहीं। अतः सर्वत्र इन अवस्थाओं का भाव सहज परिणाम शुद्धि की तरतम अवस्थायें ग्रहण करना चाहिये। ज्यों-ज्यों उसको विशुद्धानन्द की प्राप्ति होती है त्यों-त्यों वह बाहर से विरक्त होता है। तथा ज्यों-ज्यों वाहर से हटता है त्यों-त्यों उसको आत्मिक शान्ति व आनन्द की प्राप्ति होती जाती है। इस प्रकार वाहर का त्याग व आन्तरिक तृप्ति, विशुद्धि व आनन्द की वृद्धि होती जाती है। वाह्य का त्याग अन्तर में कारण तथा आन्तरिक विशुद्धि वाह्य त्याग में कारण पड़ती है।

जीवन विकास की प्रथमावस्था में वह महाभाग सहज आत्मानन्द से प्रेरित होकर पांच पापों अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, अव्रह्म व अति परिग्रह संचय से विरक्त हो जाता है, अतः इनका त्याग कर देता है। लोक प्रसिद्ध पंच पापों के त्याग के साथ वह सप्त व्यसनों व पंच उदम्वर फलों का त्यागी वन जाता है क्योंकि चित्त में आत्म सन्तोष जागृत हुआ है। वह प्राणिमात्र में कीटपतंग से लेकर मनुष्य तक सव शरीरों में ब्रह्म के दर्शन करने लग जाता है, अतः उसका मन किसी को सताना नहीं चाहता। दूसरों के दुःख को देखकर वह स्वयं विह्वल हो जाता है, और उसके दुःख को दूर करने का प्रयत्न करता है फिर स्वयं किसी को सताने की वात तो वहुत दूर की है। अतः वह भोजन आदि के वनाने में विवेक रखता है ताकि उसमें अधिक हिंसा न हो तथा सात्विक भोजन हो तामसिक न हो। आटा आदि अपने घर में ही पीस कर तैय्यार करता है। मशीन का खाने में दोष नहीं अपितु वहां पर विना साफ किये सुरसरी आदि जीवों से युक्त सव प्रकार का अन्न पीसने के लिये आता है, तथा चक्की के पाट साफ न किये जाने के कारण तथा उसका वस्त्र महीनों तक साफ न किया जाने के कारण, वह जीवों की योनि वन जाता है और वह जीव तथा अशोधित अन्न हमारे अन्न में मिलकर उसको भी अयोग्य वना देता है। पानी को

छानकर प्रयोग करता है उसमें से निकली सूक्ष्म जीव राशि को यथा-स्थान पहुँचा देता है। तथा इसी प्रकार घी दूध आदि भी ठीक प्रकार से तैय्यार किये प्राप्त करता है। इस प्रकार का सात्विक भोजन भी सीमित समय पर ही करता है। अभ्यास न होने से जितने कम से कम समय खाकर रह सके उतने का प्रमाण कर लेता है। रात्रि के भोजन का तो प्रश्न ही नहीं। इस प्रकार के सीमित समय पर किये सात्विक भोजन से उसके मन में भी सात्विक विचार आते हैं क्योंकि सात्विक अन्न से सात्विक मन का निर्माण होता है, उस मन से वैसे ही विचार। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से आत्मा व शरीर पृथक हैं। एक द्रव्य दूसरे का कर्ता नहीं है, परन्तु जब तक शरीर की पीड़ायें महसूस होती हैं, तथा जब तक इन्द्रियाधीन प्रवृत्ति है अर्थात इन्द्रियों से जाना जाता है तब तक अवश्य ही उसका प्रभाव आत्मा पर पड़ेगा। इन्द्रियों का निर्माण जैसे पदार्थों से होगा वह वैसा ही कार्य करेंगी। शराब पीने से इन्द्रिय रूप यंत्र बिगड़ जाता है जिससे आत्मा जानने की शक्ति रखता हुआ भी जान नहीं पाता। विचारने की शक्ति रखते हुए भी विचार नहीं पाता। परन्तु जब आत्मा इन्द्रियों से जानना छोड़ देगा तथा आत्म के द्वारा ही प्रत्यक्ष जाना करेगा, ऐसी अवस्था होने पर उसका इन्द्रियों से कोई सम्बन्ध न रहेगा तथा उस समय उसको इन्द्रियों रूप यंत्र की रक्षा के अर्थ भोजन भी न देना पड़ेगा पन्रतु वर्तमान की इन्द्रियाधीन प्रवृति में सात्विक भोजन का परम्परा से आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है। इसलिये हमेशा सात्विक भोजन करना चाहिये।

विवेक पूर्वक देख-शोध कर भोजन करने से चित्त में प्रकाश होता है, आनन्द होता है। देखिये आप चौका लगाते हैं, वह भोजन आपको स्वादिष्ट क्यों लगता है? भोजन बढ़िया बना हो ऐसा नहीं अपितु उसमें विवेक समाया हुआ है। विवेक का अर्थ कषाय नहीं। जैसे कि आपने खूब धो-पोंछकर चौका तैयार किया और कदाचित उसमें एक बालक घुस गया। तो उससे आप लड़ने लग जायें,

क्रोध करें खाना छोड़ दें क्लेश करें, अथवा बच्चे को मारें। तब इस प्रकार का भोजन अत्यन्त अनष्टिकर व हिंसायुक्त होगा। उसको अविवेक का भोजन कहेंगे। छोटे-छोटे चींटी मकौड़े की रक्षा करना परन्तु पंचेन्द्रिय मनुष्य से कलह-क्लेश करना अर्थात् उसके प्राणों का घात रूप हिंसा करना धर्म नहीं है। चींटी को मरने में कम पीड़ा है क्योंकि उसमें वेदन करने की शक्ति रूप ज्ञान अल्प है जबकि पंचेन्द्रिय मनुष्य में अधिक। अतः छोटे को बचाकर बड़े को मारने में तो व्यापार टोटे का रहा। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं यह कहती हूँ कि चींटी को मार दो अपितु कहने का तात्पर्य यह है कि चींटी को भी बचाओ और मनुष्य को भी। जब दोनों को बचाकर भोजन तैयार हुआ होगा वही सात्विक व विवेकयुक्त भोजन होगा। विवेक का अर्थ कषाय नहीं है अपितु विश्व प्रेम है। जिसमें वास्तविक वैराग्य होता है उसको तो प्राणिमात्र में ब्रह्मदर्शन होंगे अतः वह तो किसी को सतायेगा ही नहीं। उससे अन्यथा प्रवृत्ति होगी ही नहीं। अतः ऐसी सत्प्रवृत्ति रूप वैराग्य की झलक एवं आभा जिसमें मूर्तिमान हुई है, वही वास्तव में प्रथम प्रतिमा धारी है, जिसने बाह्य वेशमात्र रखा है अथवा ऊपरी क्रिया अपनाई है उसकी वह प्रतिमा नहीं है। संक्षेप में जीवमात्र में ब्रह्मदर्शन पूर्वक बाह्य क्रिया होना ही प्रतिमा का मुख्य लक्षण है। इस प्रथम प्रतिमा को दार्शनिक प्रतिमा नाम से अंकित किया गया है। ऐसे लक्षण जिसमें प्रगट हुए हैं वह भले प्रतिमा नाम न जानता हो वह भले कोई नियम न जानता हो तो भी उसके प्रतिमा हैं। यह प्रथम लक्षण ही आगे क्रम से बढ़ता हुआ उसको पूर्णता से मिला देता है।

सुख की ओर–

दूसरा कदम

श्री राम जिस प्रकार स्वर्ण मृग के पीछे उसको प्राप्त करने के लिये दौड़े चले गए, उस समय उनको कुछ भी सूझ नहीं रहा था, उन्होंने नहीं विचारा कि जिस दशा में मैं जा रहा हूँ उसका मार्ग क्या है ? यहां के हिंसक जन्तु उनको क्या हानि पहुँचा सकते हैं ? पथ पर पड़े हुए कांटे व झाड़-झंकाड़ क्या उनके कोमल चरणों को लहू-लुहान कर सकते हैं ? ऊंचे नीचे पड़े पत्थरों की टक्कर क्या कुछ उनको हानि पहुँचा सकती है ? ऊपर से रात्रि पड़ रही है तथा थककर पसीनों से तर हो गए हैं, आदि-आदि। किसी भी कष्ट की विना परवाह किये चले जा रहे थे वे तेजी से उसी मृग की ओर। उनको मृग की चमचमाती किरण चुम्बक की भांति खेंचे लिये जा रही थी। इसी प्रकार एक साधक को भी हृदय में छलछलाती ठाटे मारती वह ब्रह्मानन्दमयी स्रोतस्विनी अपनी ओर खेंच लेती है। वह मुमुक्षु भी हृदय की गहनता में से आती प्रकाश की उस दिव्य किरण से खिचा चला जाता है किस दिशा में इसका स्वयं उसको भी पता नहीं होता। जगत् की बड़े-से बड़ी बाधायें भी उसको फूलवत् सुहावनी प्रतीत होती हैं क्योंकि ब्रह्मानन्द की एक कणिका उसके जीवन का सार है, उसका जीवन उसकी सर्व सम्पत्ति है। वह तो उस लुभावनी देहालय में स्थित मूरत पर मतवाला हो जाता है, झूम उठता है। उसके नाम स्मरण से ही उसमें रोमाञ्चोत्पाद होता है। जगत् उसको पागल समझता है और वह जगत् को पागल समझता है क्योंकि जिस विषयानन्द के पीछे जगत् ठोकरें खाता फिरता है वह उस साधक की दृष्टि में धूल है और जिस ब्रह्मामृत के पीछे वह झूमता फिरता है उसको जगत् जानता नहीं। इसीलिये ठीक कहा

है कि जिस जगत् में ज्ञानी जागता है उसमें जगत् सोता है और जिसमें जगत् जागता है उसमें ज्ञानी सोता है। यह कैसी विचित्रता है !

अरे ! जगत् के हृदय चक्षु विहीन प्राणियों ! जागो ! अपने को समझो, सत्य को पहिचानो, उस परमात्मा को पहिचानो, उस अन्तरात्मा को जानो। वह कहीं दूर नहीं है। हृदय में प्रकाशमान है। ज्ञानियों के लिये वह प्रत्यक्ष और अज्ञानियों के लिये वही अव्यक्त बना हुआ है। वह समस्त जगत् का सार है। ऐसे उस चिदात्मा को पहिचानो। वह आनन्द रूप है। वह अनन्त शक्ति है। ठीक कहा है—

यदव्यक्तमबोधानां व्यक्तं सद्बोध चक्षुषाम् ।
सारं यत्सर्व वस्तुनाम् नमस्तस्मै चिदात्मने ।।

उस परम परमात्मा को जान लेने पर समस्त जगत् जान लिया जाता है। उसके जाने विना, अपने को जाने विना जगत के ज्ञान से क्या ? दीपक यदि सबको प्रकाशित न करे तो उसका जगत् को प्रकाशित करना क्या ? पहले वह स्वयं को प्रकाशित करता है, उससे वह जगत् प्रकाशक कहा जाता है। इसी प्रकार पहले सूर्य स्वयं को प्रकाशित करता है तब ही संसार का प्रकाशक है। इसी प्रकार आत्मा का विश्व साक्षित्व तब सफल है जबकि वह स्वयं को जान ले। अतः अपने को पहिचानो। अरुणि का पुत्र श्वेतकेतु ज्ञान नहीं सीखा। तब पिता की आज्ञा से गुरुगृह में अध्ययन के लिये गया। जब समस्त वेद-वेदांगों में पारंगत होकर पिता के पास पहुँचा तो बड़ा उद्दण्डी हो गया था। विद्या का फल तो विवेक व विनय होता है परन्तु पिता ने देखा कि पुत्र बहुत अविनयी हो गया है। वे भी समझ गए कि पुत्र ने केवल शब्द विद्या सीखी है। मूल व भावात्मक तत्व को प्राप्त नहीं हुआ है अतः उसने पुत्र से कहा कि "बेटा एक प्रश्न बताओ, वह यह कि संसार में कौन सी ऐसी वस्तु है जिसके जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है ?" पुत्र ने कहा कि "पिता जी ! ऐसी वस्तु कोई नहीं हो सकती। यह भी कोई प्रश्न है, यदि होता तो समस्त शास्त्र पढ़ने की तथा वर्षों गुरु गृह में व्यर्थ करने की क्या आवश्यकता थी ? केवल एक वस्तु जान लेते बस सब ज्ञान प्राप्त हो जाता। अतः ऐसी वस्तु संसार में कोई नहीं है।" पिता ने तब पुत्र को सम्बोधकर

कहा कि "क्या बेटा यदि मिट्टी को जान ले तो उससे निर्मित समस्त खिलौने जान लिये जायेंगे या नहीं। तथा समुद्र को जान लेने पर उसमें उत्पन्न होने वाली सर्व लहरें जान ली जायेंगी या नहीं अतः आत्मा के जान लेने पर उसके आगे-पीछे धारण किये जाने वाले समस्त शरीर जान लिये गए या नहीं तथा उन्हीं समस्त शरीरों की समाप्ति रूप समस्त जगत् जान लिया गया या नहीं। अतः सिद्ध हुआ कि एक आत्मा को जान लेने पर समस्त जगत् जान लिया गया। ब्रह्म को आत्मा को खोजो। उसको प्राप्त करो वह ब्रह्म ही प्राणिमात्र में व्याप्त है। ब्रह्म के रूप ही ये सब प्राणी हैं। सब में ब्रह्म को देखो। सबको परमात्मा रूप समझो। तब तुम ब्रह्ममय बन जाओगे। जो अपने हृदय में परमप्रभु को देखता है वह तो स्वभाव से जीव मात्र में ईश्वर दर्शन करता है।

आज वैराग्य की द्वितीय झलक की बात चलती है। यहां कुछ नवीन व्रत धारण नहीं करता। अपितु प्रथमावस्था में जिन पांच पापों का स्थूल रूप से त्याग किया था उन्हीं को यहां सूक्ष्म रूप से त्याग करता है। वहां पर लोक प्रसिद्ध पापों का त्याग किया था अब उसके सूक्ष्म दोषों को टालता है अथवा उसके चित्त में वैराग्य व प्रेम की वृद्धि के कारण वह पाप होते नहीं हैं। यहां आकर वह किसी को कष्ट पहुँचाने की तो बात नहीं अपितु सबको सुख पहुँचाना चाहता है। यद्यपि वह मजदूर व मिस्त्री से काम कराता है, क्योंकि उस काम को वह स्वयं नहीं कर सकता, परन्तु कष्ट देना नहीं चाहता। जैसे एक समय एक भक्त के मकान की छत टूट गई। ठीक करने के लिये मिस्त्री को बुलाया गया। मिस्त्री ज्यों ही छत ठीक करने लगा त्योंही धूप आ गई। गर्मी का मौसम था। भक्त से कहे रहा न गया अतः दौड़कर छाता उठा लाया और स्वयं छाया करके खड़ा हो गया। इसमें उसको तनिक भी शर्म नहीं थी, दुःख न था अपितु आनन्द था अथवा मिस्त्री के प्रति प्यार उछल रहा था। जिस प्रकार एक माता का पुत्र यदि धूप में काम करे तो माता का हृदय कट-कट करता है। माता चिल्लाती हैं "बेटा? ठहर जा रहने दे चक्कर आ जायेगा। संध्या को कर लेना।" यदि कदाचित काम शीघ्र ही कराना हो तो

माता का एक पग रसोई तो एक पुत्र के पास होता है। रोटी जल जाती है दूध खिड जाता है उसका ध्यान ही नहीं रहता। उसको तो पुत्र की पीड़ा असह्य हो रही है। काम हो जाने पर वह पुत्र को नाना प्रकार की सुख सुविधा पहुँचाती है, व्यन्जन देती है। अपने पेट की रोटी भी वचाकर पुत्र को खिला देती है, स्वयं भूखा रहकर पुत्र को खिला देना चाहती है। इसी प्रका प्रेमी भक्त अपने सेवकों को अपना सर्वस्व दे देना चाहता है। अपने योग्य रख धन आश्रितों को दे देता है। उसमें उसको आनन्द होता है। उसके पास लक्ष्मी की कमी नहीं होती वह तो उसके चरण की दासी वन जाती है। इससे वे आश्रित भी उसके प्रेमी हो जाते हैं। वे भी छुप-छुपकर आकर उसका काम कर जाया करते हैं। उसको सुख पहुंचाया करते हैं क्योंकि वे मजदूर उसको अपनी मातावत् समझकर प्यार करते हैं। परन्तु यदि कोई मनुष्य प्रेम का व्यवहार करे और मन में यह आशा रक्खे कि छुपकर देखूं ये नौकर मेरा काम भी करते हैं या नहीं ? और पुनः पुनः छुपकर देखे। तो उसके मन में छुपकर काम कराने का स्वार्थ पड़ा हुआ है प्रेम कहाँ ? क्योंकि यदि प्रेमी उन मिस्त्रियों को काम करते देख लेगा तो काम करने ही न देगा, उसके हृदय में काम कराने की वासना नहीं है जवकि स्वार्थी के मन में काम कराने का वड़ा लोभ है। प्रेम एक भाव है जो पहिचाना जाता है। क्रिया पर से वताया जाना कठिन है। भाव ही भाव को पहिचानता है। हो सकता है क्रिया भाव के विल्कुल विपरीत हो। देखिये आपसे कोई खूब प्रेम से वातें करता है और सेवा करता है, परन्तु आपको आनन्द नहीं आता। आप कह वैठते हैं कि "वगल में छुरी मुंह में राम-राम" इससे क्या लाभ है ? चिकनी चुपड़ी वातें वनाकर थूक के आंसू पोंछने से क्या लाभ है ? परन्तु भले कोई खूब गाली देकर भी रूखी रोटी खिला रहा हो उसमें भी प्यार झलकता दिखाई देता है। यह तो भाव की महिमा है, उसमें आपको आनन्द आ जाता है पशु पक्षी व वालक भी इसको समझते हैं। प्रेम से खूब पीटने पर भी वालक नहीं रोता मां-मां कहकर उसी को चिपटता है। परन्तु गुस्से में आंख मात्र दिखा देने पर दूर

भागता है। देखिये प्रेम से ही तो श्रीराम श्रमणी की झोंपड़ी पर पहुँच गए थे। श्रमणी को बता दिया गया था कि तेरे यहां भगवान आयेंगे। बेचारी प्रतिदिन रास्ता बुहार कर आती थी, घर पोतती थी और प्रतीक्षा करती थी। परन्तु नहीं आते थे इससे वह रास्ता बुहारना न छोड़ती क्योंकि वह समझती थी कि यदि भगवान आ गए तो उनके पांव में कांटा चुभ जायेगा। तब मेरा रास्ता बुहारने से क्या होगा क्योंकि कांटा तो चुभ चुकेगा। न मालूम भगवान कब आ जावें? इसी से जब भगवान उसकी कुटिया पर पहुँचे तो मतवाली हो गई और चख-चखकर मीठे बेर खिलाने लगी। प्रेम-पीयूष में लथपथ उन बेरों को श्रीराम ने खा लिया। यह प्रेम-भाव पहिचाना जाता है शब्दों में बताने की चीज नहीं है।

विश्व के साथ मातावत् प्यार करने में ही सच्चा प्रेम है। पिता की अपेक्षा माता को अपनी सन्तान से अधिक प्रेम होता है। तथा निःस्वार्थ होता है। अतः बहुत सम्प्रदाय जैसे शैवमत भगवान को पुल्लिग रूप से नहीं स्त्री लिंग से पूजते हैं। यह शरीर की बात नहीं है। अपितु पिता की अपेक्षा मातृत्व भाव में प्रेम का गाढ़ भाव होता है। ज्यों-ज्यों साधक का प्रेम विश्व व्यापक बनता जाता है त्यों-त्यों उसका स्वार्थ कम होना जाता है। ज्यों-ज्यों जगत् जन उसको प्रेम दृष्टि से निहारते हैं। इससे प्रेमी की शक्ति के एक एक अंश उसमें प्रविष्ट होते जाते हैं। इससे उसकी आत्मिक शक्ति बढ़ती है। ज्यों-ज्यों आत्मिक शक्ति बढ़ती है त्यों-त्यों प्रेम और विस्तृत होता है। जब प्रेमी का प्रेम व्यापक हो जाता है तब समस्त विश्व उसका कुटुम्ब बन जाता है तब उसको स्वार्थपूर्ण गृहस्थ के संकुचित दायरे से क्या प्रयोजन? अर्थात् घर का छोटा दायरा छूट जाता है, यही वास्तव में गृह त्याग है। घर छोड़कर घर के व्यक्तियों से प्रेम रहा तो पाप है क्योंकि वह विश्व के दायरे में रहता है उनसे प्यार लेता है परन्तु उसका मन विश्व का हुआ नहीं अतः यह स्पष्ट माया है। अतः विश्व को अपना मानना ही सच्ची दीक्षा है। जगत् को अपना प्रेम-पात्र

बनाने पर तो घर स्वयं छूट जाता है। प्रारम्भ में ज्यों-ज्यों उसको विश्व प्रेम का मधुर आस्वाद आता है तब वह अपने स्वार्थ के दायरे को संकुचित करता जाता है अर्थात् दिग्विरति के द्वारा व्यापार के क्षेत्र को कम करता है तथा देश विरति के द्वारा नियमित दिनों में गमनागमन का लेन-देन का त्याग करता है। जितने क्षेत्र की सीमा रक्खी है उतने क्षेत्र में ही उसका व्यापार भारी होगा शेष में नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि शेष क्षेत्र से उसका कोई प्रयोजन है अपितु तात्पर्य यह है कि उस क्षेत्र में उसका विशुद्ध प्रेम है मलिन स्वार्थ नहीं। तब ही तो साधु बन जाने पर उस प्रकार की सीमाओं का बन्धन नहीं रहेगा क्योंकि उस समय उसका समस्त जगत् पर विशुद्ध प्रेम ही शेष रह जाता है। इसके अतिरिक्त व्यर्थ के पापों का त्याग हो जाता है जैसे किसी की निन्दा करना, हिंसा का उपदेश दे देना, चलते-चलते पत्थर उठाकर मार दिया, वृक्ष को अथवा कुत्ते को। इस प्रकार की अनुचित क्रियायें उससे होती नहीं, यही उसका अनर्थ दण्ड नामक व्रत कहा जाता है।

प्रेम की परिपूर्णता का अभ्यास करने के लिए वह सामायिक करता है। प्रातः व सन्ध्या को एक एक घण्टा बैठकर विश्व को ब्रह्म का रूप तथा अपना प्रेम पात्र देखने का प्रयत्न करता है तथा मन को ढीला छोड़कर विवेक रूप से डोर से पकड़ता हुआ देखता है कि यह कहां भागता है। यदि कहीं पाप व स्वार्थ में जावे तो रोकने का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार कोई ग्वाला गायों को खुला छोड़कर स्वयं वृक्ष के नीचे बैठ जाता है परन्तु यदि गाय अनुचित स्थान पर जाने लगे तो रोकता है। साधक पहले मन को पढ़े, क्योंकि अभी तो यही पता नहीं कि मन जाता कहां है। जब यह पता लग जावे कि वहां भागा है तब बाद में ही रोकने का प्रश्न आयेगा। रोकने के लिये पाठ का वा मन्त्र का आश्रय ले। इस प्रकार अभ्यास करते करते एक दिन मन आधीन होगा। इसमें पूरा भव भी लग जाये तो बड़ी बात नहीं। मन को पकड़ना आसान नहीं। उसकी गति योगियों के लिये

भी दूभर है। अतः धैर्य के साथ अभ्यास करें। तत्पश्चात् सप्ताह में एक दिन पर्व को मन्दिर में आकर बैठ जाये। उस दिन साधुवत प्रेम की व्यापकता का अभ्यास करे। उस दिन घर का स्वार्थपूर्ण दायरा छोड़ दे। इसीलिये क्रिश्चियन लोगों ने रविवार का दिन निर्धारित किया था कि एक दिन वे पूरा गिर्जाघर में बितायें न व्यापार करें और न खायें। परन्तु आज तो समझते हैं कि रविवार का छुट्टी का दिन है। इस दिन घर के बचे हुए काम करो तथा अधिक स्वादिष्ट भोजन बनाओ व खाओ। भैय्या! समय सब मन्दिर का ही फालतू है। देखिये कहीं जाना हो तो सब काम पूरे होते हैं परन्तु भगवान का समय कट जाता है। हाथ जोड़े जल्दी चलो मानो भगवान को यह कहकर भाग रहे हों कि भगवान हमारी उपस्थिति लगा देना। इसी प्रकार शादी में खाना व भोग अधिक परन्तु मन्दिर के लिये समय नहीं। रविवार या अष्टमी चतुर्दशी को भोजन न करें और मन्दिर में रहें। यह प्रोषधोपवास नाम का व्रत कहा जाता है।

विश्व प्रेम मूर्ति उन अतिथि योगियों की चरण सेवा प्रतिदिन करता है उनके जीवन से एक प्रकाश व प्रेरणा प्राप्त करता है। इसके पश्चात् वह अपने निजी योग्य व उपभोग्य वस्तुओं का प्रमाण कर लेता है। भोग्य वस्तुयें जैसे—सब्जीयें, खाद्य, लेह्य, अन्न आदि। उपभोग्य जो पुनः भोगने में आ सकें जैसे—जेवर, वस्त्र, रुपया, धन, जायदाद, बर्तन आदि। दोनों ही प्रकार की वस्तुओं की सीमा कर लेने से उसकी बढ़ती हुई इच्छा व तृष्णाओं का अभाव हो जाता है। इच्छा के अभाव के साथ साथ विकल्पों का भी अभाव हो जाता है तथा स्वार्थ की सीमा होने से उसके प्रेम में वृद्धि होती है। वह अपनी तृष्णा की पूर्ति के अर्थ किसी के तन की खाल नहीं नोचता किसी के बच्चों की रोटी नहीं नोचता। अपितु अपनी इच्छा से अधिक का त्याग करके दूसरों की सेवा करता है। इस प्रकार श्रावक के बारह व्रत हैं पांच पापों के त्याग रूप पञ्च व्रत तथा उसकी वृद्धि के अर्थ सात शील वा शिक्षा व्रत हैं। जिसके

जीवन में यह विशुद्धता आई है वही द्वितीय प्रतिमाधारी कहा जाता है। यह है प्रेम व वैराग्य की द्वितीय झांकी, यह धर्म है। आज भगवान के आगे हाथ जोड़ने को ही धर्म समझ लिया। आज धर्म शब्द अपना महत्व खो बैठा। आज धर्म शब्द से ही नवयुवकों को चिढ़ हो गई क्योंकि वह धर्म के रहस्य को समझे नहीं। धर्म है ब्रह्म दर्शन पूर्वक विश्व सेवा। ऐसे धर्म को अपनाइये। यह प्राणि मात्र का जीवन है, हृदय की मांग है, यही समस्त सृष्टि का सार है।

सुख की ओर—

अगले अगले कदम

हृदय में वास करने वाली उस अन्तरात्मा को खोजो। भीतर में झुककर उस परमात्मा को देखो। वही ईश्वर है, वही प्रभु है। अन्दर में कौन महात्मा है जो कि कुछ अनुचित करने से रोकता है, मन दबता है, अन्धकार छा जाता है, शरीर कांप उठता है, दिशायें मानों धिक्कारा करती हैं, मुँह छिपाने को मन किया करता है। ऐसी कौन शक्ति है जो पाप कर्म से हटने की प्रेरणा किया करती है तथा कुछ स्व-परोपकारी कर्म करते समय मन में हर्ष होता है, ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मैं आकाश में ही उड़ा जा रहा हूँ, हृदय में प्रकाश व उल्लास होता है, अपने उस कर्म को सबको बताते कुछ गर्व सा अनुभव होता है, वह शक्ति कौन है ? ऐसा खोजने चलो। जो इन दोनों का साक्षी है बस वही परमात्मा है। जो कर्म करने से उस अन्तरात्मा को प्रसन्नता व प्रकाश मिलता है वही पुण्य कर्म कहलाते हैं, परन्तु जिनके करने से हृदय में अन्धकार छा जाता है वही पाप कर्म कहलाते हैं, शास्त्र में लिखे पुण्य कर्म शुभ हैं ऐसा अन्ध-विश्वास से स्वीकार करना योग्य नहीं। ना ही एक वैज्ञानिक ऐसा मानकर चलता है अपितु मेरा हृदय एवं अन्तर प्रभु कहता है वही कर्म कर्तव्य है। शास्त्र में भी तो उसी अनुभव के आधार पर आचार्यों ने लिखे हैं। अतः अनुभवनीय सत्कर्म व शास्त्रविहीन कर्म में भेद नहीं होता है।

वह परमात्मा इस अहंकार के नीचे दब गया है। स्वार्थ के द्वारा कुचला गया है, मृतप्राय हो गया है। इस झूठे अहंकार का विनाश करो सच्चे अहं भाव को जागृत करो। सच्चे अहं भाव में प्रभुत्व है। परन्तु झूठे अहं में संसार है, दुःख है। भाव ही संसार है वही

मोक्ष। इस झूठे अहं के द्वारा यह जीव इस स्थूल सृष्टि का सृजन करता है परन्तु सच्चे अहं से अपने ऐश्वर्य का भोग करता है। अहं से लौकिक सम्पत्ति का स्वामित्व धारण करता है परन्तु सच्चे अहं से अपनी अनन्त विभूति का ईश्वर बनता है। ज्योंही यह जीव अपने आत्मिक अहं को छोड़कर बाह्य जगत् की ओर 'मैं' ऐसा अहंकार करता है त्योंही यह, वह रूप अन्तरंग विकल्प रूप परतत्वों की सृष्टि बन जाती है। उसमें अच्छे बुरे व मेरे-तेरे की कल्पनाओं के द्वारा यह कषायों का जाल भी बना लेता है। ज्योंही अन्तरंग सृष्टि बनती है उसी से स्थूल सृष्टि रूप विभिन्न शरीरों की उत्पत्ति हो जाती है। जब तक वह अहंकार विनष्ट नहीं होता तब तक शरीरों की परम्परा रूप जगत् भी बनता रहता है। अतः संसार का मूल अहंकार है। हम सब क्रोध कषाय को जानते हैं परन्तु उसका बीज यह सूक्ष्म अहंकार है उससे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। बीज सदा सूक्ष्म निर्मित होता है। परन्तु उससे कार्य बड़ा विस्तृत व स्थूल निर्मित होता है। अतः उस अहंकार का विनाश करो। अहंकार का नाश करने के लिये प्रेम की उत्पत्ति कीजिये। प्रेम में आनन्द है। समस्त सृष्टि हमारा प्रेमपात्र बन जाये। समस्त जगत् सुख पाये भले हमें दुःख मिल जाये क्योंकि सभी प्रभु के रूप हैं। ब्रह्मत्व की भावना का विकास ही तो आत्म विकास वा वैराग्य की वृद्धि है। सेवा कीजिये उसी से ब्रह्मभाव दृढ़ होगा। एक बार राजा पुण्यनिधि कोढ़ियों के पास जा रहा था। इससे समस्त दुखी जन उसकी ओर आकर्षित होने लगे तथा प्रसन्न भी। तब राजा ने उसका कारण पूछा। पता लगा कि राजा के शरीर से स्पर्शित वायु से उनको सुख मिल रहा है इसी से वे सब उनकी ओर खिंच रहे हैं। तब राजा ने कहा कि अब मैं यहीं रहूँगा क्योंकि यदि मेरी ओर से जाने वाली वायु से इनको सुख मिलता है तो इससे अच्छी बात क्या है ? मैं तो चाहता हूँ कि ये मेरा समस्त पुण्य लेकर सुख पायें तथा मैं सबके पाप लेकर दुःख पालूँ इसी में मुझे सुख होगा—

तस्माद् यत् सुकृतं किंचिन्ममास्ति त्रिदशाधिप।
तेन मुच्यन्तु नरकात् पापिनो यतानां गता॥

कितनी उच्च भावनाएं है उस राजा की। ऐसी भावना से दूसरों

को लाभ हो अथवा न हो परन्तु राजा को तो आनन्द आ रहा है इससे उसके पुण्य में अनन्तगुण वृद्धि हो रही है। यही है सच्ची मानवता। हम नित्य कहा करते हैं कि कपाय का अभाव करो, क्रोध को त्यागो। परन्तु मैं कहती हूँ कि प्रेम करो क्रोध स्वयं छूट जायेगा। क्रोध को छोड़ो ऐसा कहने से शून्यता सी दीखती है तथा उसका त्याग कठिन लगता है। परन्तु प्रेम करो ऐसा सुनने व कहने में आनन्द व प्रकाश दीखता है तथा इसका अनुष्ठान सरल प्रतीत होता है। प्रेम करने में कुछ तपस्या व कठिनाई नहीं अपितु मानव का स्वभाव है। जव भी आप प्रेम करते हैं अपने वच्चों से। उसी प्रेम को व्यापक वना दीजिये। वस इतनी ही तो वात है। चार वच्चों के प्रेम से जो आनन्द आता उससे अनन्तगुणा विश्वप्रेम से आयेगा। मानव पूजा ही सच्ची ईश्वर पूजा है। मन्दिर में जाकर भगवान की पूजा करें परन्तु चेतनमूर्ति की पूजा न करें वह ईश्वर पूजा नहीं अपितु पूजा का स्वांग है मात्र प्रदर्शन है। जीव सेवा सच्ची पूजा है। एक वार अवू वैन अदम नामक एक दीन भक्त थे। वह दुखियों की सेवा किया करते थे। जिस किसी दुखी को देखते उसी की सेवा में जुट जाते। उसमें उनको सच्चा सुख मिलता था। एक दिन जव वह रात्रि को सो रहे थे तव उनके कमरे में एक फरिश्ता आया और मेज पर वैठ-कर कुछ लिखने लगा। तव अदम की आंख खुली उन्होंने उससे पूछा कि भैय्या! तुम क्या कर रहे? तव उसने उत्तर दिया कि "मैं उन व्यक्तियों के नाम लिख रहा हूँ जो ईश्वर से प्यार करते हैं।" अदम ने कहा कि "मैं ईश्वर से तो नहीं प्यार करता हूँ, परन्तु यदि कोई ऐसी लिस्ट हो जिसमें दुखियों से प्यार करने वालों के नाम हों, उसमें मेरा भी नाम लिख लेना।" इतनी वात के पश्चात फरिश्ता गायव हो गया। एक सप्ताह के पश्चात रात्रि के समय वही फरिश्ता कमरे में आया। आज भी वह कुछ लिख रहा था। अदम ने पूछा कि 'तुम क्या लिख रहे हो?" उसने जवाव दिया कि "आज मैं उन व्यक्तियों के नाम लिख रहा हूँ जिनको ईश्वर प्यार करता है।" तव अदम ने देखा कि सवसे पहले उसी का नाम लिखा था। तात्पर्य यह है कि जो दुखियों से प्यार करता है वही तो ईश्वर भक्त

है। भगवान वा ईश्वर मन्दिर में नहीं रहता अपितु प्राणियों के देह में वसता है। अत: उस असली प्रभु की सेवा ही तो सच्ची भक्ति है। भगवान की मूर्ति को पूजे परन्तु भगवान को ठुकराये तो इससे भगवान की सन्तुष्टि न होगी। जैसे कोई पिता के फोटो की तो पगचम्मी करे परन्तु पिता चाहे भूखा मरे, उसकी सुध नहीं इससे तो पिता प्रसन्न न होगा। पिता की सेवा करने से ही पिता का प्रेम भाजन वन सकेगा। अत: देहगत् ईश्वर की सेवा व पूजा से ही ईश्वर व भगवान प्रसन्न होगा। अन्तरात्मा प्रसन्न होगी। जीवमात्र की सेवा करो। वही समष्टिगत् भगवान की पूजा होगी। ऐसी पूजा करने वाले का समस्त जगत् एक परिवार है। 'वसुधैव कुटुम्वकं'। सारा जगत उसका वह समस्त जगत का फिर भय को कहां अवकाश? फिर शत्रुत्व किससे? प्रेम-प्रेम विशुद्ध प्रेम का स्रोत फूट पड़ेगा। उसको कष्ट कहां क्योंकि समष्टिगत् ईश्वर उसका है।

श्रावक की प्रतिमाओं का प्रसंग है। पहले द्वितीय प्रतिमा का स्वरूप वताया था। उसमें १२ व्रत वताये गये थे। आगामी प्रतिमाओं में कोई विशेष व्रत धारण नहीं करने पड़ते। यही व्रत आगे तक रहते हैं परन्तु इसी में अधिकाधिक विशुद्धि आती जाती है। द्वितीय प्रतिमा में जो सामायिक नामक व्रत है, यद्यपि दूसरी प्रतिमा में सामायिक करता था, परन्तु कभी-कभी गृहस्थ कार्यो में फंसकर सामायिक छूट भी जाती थी। वैराग्य की वृद्धि हो जाने पर गृहस्थ के समस्त आवश्यक कार्यों को छोड़कर तथा जीवन को सन्तोषी वनाकर अव नियमित रूप से तीनों समय एक-एक घन्टा समता एवं व्यापक प्रेम-भाव में वैठकर जो हिलोरे लेता है वही तृतीय सामायिक प्रतिमा नामक श्रावक होता है। अव उसको उस आनन्द के विना विराम नहीं। जिस प्रकार आज आपको भोजन किये विना रहा नहीं जाता उसी प्रकार उससे आत्मिक आनन्दरूप अमृत भोजन के विना नहीं रहा जाता। यूं तो वह हर समय समता में रहने का अभ्यास करता है। परन्तु उस सन्ध्या के कालों में विशेष रूप से समस्त विकल्प छोड़-कर समता को प्राप्त होता है तथा स्वात्मोत्थ आनन्द में मग्न हो जाता है।

इसके पश्चात अगली अवस्था प्रोषध नामक है। यद्यपि दूसरी प्रतिमा में भी यथाशक्ति प्रोषधोपवास करता है परन्तु तब कदाचित चूक भी जाता था। धीरे-धीरे वैराग्य का उत्कर्ष होने पर अब वह नियमित रूप से सर्व विकल्प व जगत् के धन्धों से मुक्त होकर मन्दिर में आकर बैठता है। अब उसे एक घण्टे की सामयिक में चैन नहीं पड़ती। अब वह अपने प्रभु के साथ सारा दिन तन्मय होना चाहता है। अब वह अपने अन्दर में खोया-खोया सा रहना चाहता है। वाचसिक व शारीरिक क्रियाओं से विराम लेकर वह मन को भी प्रभु के साथ जोड़कर अपना सत्व खो देने में ही सुख समझता है। अब वह प्रभु का विरह सहन नहीं कर सकता। यही वैराग्य की चतुर्थ झांकी है। इसके आगे ज्यों-ज्यों उसको आनन्द में मग्नता होती जाती है त्यों-त्यों वह शारीरिक भोगों से भी विरक्त होता जाता है। उनके प्रति भी उदासीन व लापरवाह होता जाता है। भोजन के प्रति आसक्ति व स्वाद की उपेक्षा होती जाती है। उसकी भाव शक्ति विशेष बढ़ जाती है। भावावेश में डूबा रहने के कारण उसे खाना अच्छा नहीं लगता। वह हरी वनस्पतियों में भी साक्षात् जीव को देखता है, तब उसका मन उसको खाने को कैसे कर सकता है? अतः वह शरीर धारण करने को उनको विनारकर नमकादि से अचित कर के ही खाता है। यही अचित त्याग नामक पंचम अवस्था कहलाती है। यहां पर १२ व्रतों में उसके और अधिक विशुद्धता आ जाती है। उसे भोग व उपभोग की चिन्ता कहां। "उसके कपड़े फटे हैं, उसके बाल बिखरे हैं," इस बात की सुध कहां है। जिस प्रकार से पुत्रोत्पत्ति पर खुशी में पिता मतवाला हो जाता है, इसी प्रकार उसको परमानन्द हुआ है अतः उसको खाने-पीने की सुध कहां? वह तो अपना आनन्द रूप भोजन करता है। वह जगत का कष्ट नहीं देख सकता। उसमें वह एक दम सिहर उठता है। उसको निवारण करना उसका स्वभाव हो जाता है।

प्रेम ही जीवन है। इसी की वृद्धिगत् क्रमिक अवस्थायें ही प्रतिमायें हैं। इसी में सुख है। यही धर्म है। अतः समष्टिगत् प्रेम अपनाइये। सारा विश्व आपका बन जायेगा। सारे विश्व का धन आपका होगा। फिर दुःख को कहां अवकाश। अतः प्रेम ही सर्वस्व है।

जीवन रहस्य

जो असत् है उसके पीछे यह समस्त जगत दौड़ा चला जा रहा है, उसको अविनाशी बनाने का भरसक प्रयत्न कर रहा है, और जो सत् है उससे पूर्ण अनभिज्ञ तथा उसको जानने का प्रयत्न भी नहीं करते। कितनी विचित्रता है, क्या यही आज के वृद्धिगत ज्ञान का महत्त्व है ? जिस देहिक जीवन को रोज श्मशान में चिताओं पर जलता देखते हैं, जिस पुष्ट देह को क्षण भर में तेज विहीन होता देखते हैं, जिसको मल एवं रोगों का आवास देखते हैं तथा अनेकों कष्टों का कारण देखते हैं फिर उसके प्रति इतनी आसक्ति ? कदाचित उसके प्रति मृत्यु के क्षण कुछ विराग उत्पन्न करा भी देंगे, उसकी निस्सारता दर्शाकर इससे परे किसी सत्य जीवन की खोज करने को प्रेरित किया भी करते हैं। परन्तु कुछ ही क्षणों पश्चात् मानव उस नग्न दृश्य को विस्मरण करके भौतिक जीवन के पीछे ही दौड़ पड़ता है। अरे भैय्या ! जो इस जीवन को भोगने वाला है, काश ! एक बार उसको भी जान लिया होता जो इस देह को सुखी करके सुखी होना चाहता है उसकी तो तृप्ति कर दी होती परन्तु आज उसकी ओर हमारा लक्ष्य ही नहीं। आज ज्ञान बढ़ गया, विज्ञान ने उन्नति करके मानव को चन्द्रलोक एवं भूगर्भ तक पहुँचा दिया, परन्तु क्या इतना कुछ हो जाने पर भी हृदय में कुछ शान्ति व विश्रान्ति हो पाई ? अपितु मानव के जीवन की तृष्णा एवं सन्ताप तो और भी बढ़ गए। भैय्या ! यह सब बाह्य जीवन को ही प्रधानता दे देने का दुष्परिणाम है। यद्यपि बाह्य जीवन भी कुछ है, परन्तु अन्तरंग जीवन अर्थात हृदय भी अपनी सत्ता रखता है। यद्यपि वह आंखों से दिखाई नहीं देता परन्तु अन्दर में महसूस अवश्य किया जाता है।

भैय्या ! जरा अपने अन्तरंग जीवन को पढ़ो, उसको पहिचानो, उसकी पुकार को सुनो। वह तुम से निरन्तर शान्ति की मांग कर

रहा है। उसको भी तृप्त करो। उसकी तृप्ति से अर्थात् मन की प्रसन्नता से यह देह भी पुष्ट हो जायेगी, परन्तु देह की सेवा करने पर भी मन के चिन्तित रहने के कारण वह स्वस्थ न हो सकेगी। हृदय के रोग हैं, वाह्य अनित्य एवं अशुचि पदार्थों में नित्य व शुचित्व की कल्पनाओं पूर्वक उसमें इष्टानिष्टानिष्ट की कल्पनायें करके सुखी व दुःखी होना। अनित्य देह के अर्थ इष्ट पदार्थों को संग्रह एवं अनिष्ट पदार्थों के विघटन में व्यग्र रहना। उसी में से प्रगट हो गए जीवन में अनेकों रोग जैसे—स्वार्थ, द्वेष, हिंसा, झूठ, चोरी, क्रोध, मान, माया, इच्छा, तृष्णा एवं वेईमानी आदि। इनके सद्भाव में मानव कितना भी धन एवं ऐश्वर्य सम्पन्न वन जाये परन्तु उसे शान्ति नहीं मिल सकती। परन्तु यदि मनुष्य वाह्य जीवन को अनित्य जानकर अन्तरंग जीवन की ओर लक्ष्य करे और उसकी आवाज का अनुकरण करे तो उसकी दृष्टि में अपनी अन्तरंग शान्ति का अधिक मूल्य होगा और वह वाहर से उपेक्षित हो जायेगा। वह हृदय की सन्तुष्टि के लिये समस्त वाह्य सामग्री का वलिदान दे देगा। जिस प्रकार कि जव हम अधिक क्लेषित हो जाते हैं तो कषाय से ऊबकर अपने प्रतिद्वन्दी को कह देते हैं कि "भैय्या! तुम ही ले लो अमुक वस्तु हमें शान्ति से रहने दो आदि आदि।" अन्तर्मुख दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के जीवन में तव स्वतः ही ऋषी प्रणीत, सन्तोष, धैर्य, प्रेम, क्षमा, ऋजुता, सत्य, मैत्री, त्याग, निर्लोभता, कर्तव्य-परायणता आदि सद्गुण प्रगट हो जाते हैं। इनसे उसका आन्तरिक व वाह्य दोनों जीवन सुखी रहते हैं। वस इसी को तो धर्म कहते हैं। यह मन की शान्ति रूप धर्म किसी वृद्ध को ही चाहिये ऐसी वात नहीं है अपितु आवाल वृद्ध सभी के हृदय की माँग है।

उसके वाह्य के शुष्क जीवन को देखकर हम उसको दुःखी कहें तो न्याय नहीं, क्योंकि सुख वास्तव में वाह्य पदार्थों में है ही नहीं, वह तो कल्पना में है। हमको तो आनन्द चाहिये और वह भी पूर्ण। देखिये, जव किसी व्यक्ति की एक लाख को लाटरी आती है-तव उस को न खाना अच्छा लगता है न सोना। उसको गर्मी-सर्दी आदि की भी परवाह नहीं होती, वह तो आनन्दमय यूं ही झूमता रहता है। वताइये, वह आनन्द किस में है? क्या वाह्य भोग में है? सो वाह्य का भोग तो वहां कुछ भी नहीं है। वास्तव में मन की कल्पना में सुख

हुआ। वह कल्पना क्षण स्थायी पदार्थों के आश्रित होने से क्षणिक आनन्द रूप है। यदि वही निर्पेक्ष, अविनाशी पदार्थ रूप स्वाश्रित हो तो अक्षय एवं अविनाशी आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। इसी आनन्द उपलब्धि का नाम ही आत्मोपलब्धि है। आत्मा किसी नेत्रादि इन्द्रिय का विषय नहीं होता जीवन में निर्पेक्ष आनन्द एवं शान्ति की अनुभूति का होना ही आत्मानुभूति वा आत्मदर्शन है।

आज वहिर्मुखी वृत्ति होने से मानव भी अशान्त है वा राष्ट्र भी। इसमें कोई आश्चर्य की वात नहीं है, क्योंकि मानव की समष्टि का नाम ही तो राष्ट्र है। मानव में स्वार्थ है तो राष्ट्रीय मंच पर भी उसी का वोलबाला है। वहां है देहिक पदों का लोभ। यद्यपि सभी स्वभाव से प्रेरित होकर शान्ति एवं प्रेम का नारा लगाते हैं लेकिन स्वार्थ आकर रंग में भंग डाल देता है, अहंकार लड़ाई की जड़ है। अशान्ति का कारण है। यही आत्मघातक है क्योंकि तत्क्षण संताप रूप से अनुभव में आता है, इसलिये इसे पाप कहा है। भैय्या ! मानव स्वभाव से कर्मी है, वह एक क्षण भी मन-वचन व काय के कर्म से रहित नहीं रह सकता। अतः कर्म करो परन्तु आत्मघातक एवं संतापजनक अहंकार एवं वड़प्पन की भावनाओं का त्याग कर दो। देखो, फिर तुम स्वयं सुखी रहोगे और जगत् में सूर्य वनकर चमकोगे। वही धर्म होगा। इसमें किसी साम्प्रदायिक भेद को भी अवकाश नहीं है, इसमें घर छोड़कर सन्यास ग्रहण करने की भी अपेक्षा नहीं है। आपके हृदय में जिन जिन कारणों को लेकर अशान्ति होती है, संताप एवं क्लेश होता है, चिन्तायें एवं व्यग्रतायें होती हैं, उन-उन कारणों को छोड़ दो तथा जिनसे शान्ति होती हो उनको अपना लो। इसमें किसी दूसरे की हिंसा एवं अहिंसा की अपेक्षा नहीं है आत्म हिंसा ही सर्वोपरि हिंसा है। इसके सद्भाव में ही परहिंसा पाप में संग्रहीत होती है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि कोई यह कहे कि "मुझे तो चोरी करने में ही शान्ति मिलती है, अतः हमारा तो वही धर्म है।" भैय्या ! हृदय को पढ़ो तब वहीं से उत्तर मिल जायेगा। विचारो, जिस समय चोरी रूप अनर्थ कर्म करते हो उस समय हृदय में कुछ छुपने का, भय का, ग्लानि का, द्वेष का भाव उत्पन्न होकर जो संताप होता है, वह अशान्ति रूप है या नहीं ? वहां जो जलन हो रही है वही तो आत्मघात है, स्वहिंसा

है। अतः वही सबसे बड़ा पाप है। अपनी आत्मिक शान्ति के अर्थ ऐसे कर्मों का त्याग करके शान्ति व सुख प्राप्त करना ही धर्म है।

धार्मिक नियमों एवं अनुष्ठानों को बाह्य शारीरिक जीवन पर लाद कर जीवन को कष्टमय बनाकर धर्म के महत्व को मत ठुकराओ। क्योंकि धर्म नाम केवल बाह्य कर्मकाण्ड का नहीं है, अपितु मन के दोषों को निकालकर आनन्दमय जीवन यापन करना धर्म है। मन की कालिमायें, वासनायें, कषाय व इच्छा एवं तृष्णाओं को तिलाञ्जलि देकर आत्मा को तृप्त करो। स्वयं सुखी रहो और दूसरों को रहने दो। हृदय को बदलो। उसमें शान्ति, प्रेम, सात्विकता, ईमानदारी, कर्तव्यपरायणता, मैत्री आदि सद्‌गुणों का उपार्जन करो। वही चरित्र है वही धर्म है। तब किसी नियम आदि विधानों की आवश्यकता नहीं परन्तु हृदय परिवर्तन के बिना सब ऋषि प्रणीत विधान व राजकीय दण्ड विधान आदि व्यर्थ है, विडम्बना है।

———

आस्तिकता और नास्तिकता

एक छोटे से गांव में एक भगवान का मन्दिर था। गांव के लोग बड़े ही श्रद्धालु भक्त थे। पर बेचारे विवेक के नाम पर कुछ भी नहीं जानते थे। एक दिन वहां एक महात्मा आये और उन्होंने उस मन्दिर को देखा और भगवान के दर्शन किये। उन्होंने कहा ओ हो! कितना बड़ा अविवेक है कि भगवान की मूर्ति के ऊपर छप्पर नहीं डाला हुआ है। मूर्ति के ऊपर धूप पड़ती है, बरसात का पानी पड़ता है। बहुत बड़ा पाप है। जो भगवान के लिये छप्पर वाला घर नहीं बनाता उसके लिये स्वयं भी छप्पर या घर नहीं रह सकता। यदि भगवान की मूर्ति के ऊपर छप्पर नहीं डाला गया तो गांव में किसी का भी घर नहीं रहेगा। लोगों को इस प्रकार समझाया भी और डराया भी। लोगों ने गांव में चन्दा इकट्ठा किया। गांव के लोग बड़े दरिद्र थे पैसा अधिक नहीं था। लेकिन उन्होंने महात्मा जी की बात मानकर जैसे-तैसे भगवान के ऊपर छप्पर डाल दिया। अब वो महात्मा वहां से चल दिये। गांव के लोग आनन्द से रहने लगे। वे अब निश्चिंत हो गये। इतने में एक और महात्मा उस गांव में आये और उन्होंने उस मन्दिर को देखकर कहा—ओह! कितना बड़ा अनर्थ, कितनी बड़ी नासमझी, कितना बड़ा पाप। भगवान की मूर्ति के ऊपर कहीं छप्पर डला करता है। क्या आप अपने आपको भगवान से भी बड़ा समझते हो? क्या यह छप्पर भगवान की रक्षा करेगा? अगर कहीं छप्पर में आग लग गयी तो यह मूर्ति भी नष्ट हो जायेगी और गांव भी नष्ट हो जायेगा। लोगों ने सोचा कि बड़ी मुसीबत आ गई। एक महात्मा के कहने पर छप्पर डाला था और अब यह कह रहे हैं कि छप्पर डालना नहीं चाहिये। क्या करें? अन्त में यह तय हुआ कि छप्पर को उतार दिया जाये। छप्पर उतार दिया गया और वह महात्मा भी वहां से चल दिये।

इसके पश्चात् एक और महात्मा आये। वो भी कुछ कहना चाहते थे कि लोग उनके पास आये नहीं। क्यों नहीं गये ? इस डर से कि कहीं वे कोई और मुसीबत न खड़ी कर दें और लोगों ने इतना तक कर दिया कि भगवान के मन्दिर के रास्ते के पास तक जाना बन्द कर दिया। बस आज धर्म के नाम पर ऐसा ही तो हो रहा है। आज भी ऐसी ही बातें चल रही हैं कभी कुछ और कभी कुछ।

बाहर की बातों को लेकर धर्म के अन्दर जो व्यक्तियों ने अपनी मान्यतायें घुसेड दी हैं, इस कारण से मनुष्य डरने लगा है और धर्म से दूर भाग रहा है। धर्म के प्रति उसे उपेक्षा होने लगी है। उसकी बुद्धि उलझ कर रह गयी है। लेकिन किसके द्वारा ? जिन्होंने धर्म को पाया नहीं उसे समझा नहीं। जिन्होंने धर्म को केवल बाहर की चीज समझ उसमें अनेकों बाहर के आडम्बर खड़े कर दिये और इसी कारण से धर्म पनपने नहीं पाया। इधर धर्म की आड़ में अधर्म भी अवश्य पनपा करता है। धर्म का रूप धारण कर अधर्म पीछे पीछे भागता है जिस प्रकार से अर्जुन ने अपने आगे शिखण्डी को करके और उसकी आड़ के अन्दर स्वयं तीर चलाकर भीष्म पितामह को धराशायी कर दिया था। इसी प्रकार धर्म की आड़ के अन्दर पीछे बैठा हुआ अधर्म अन्याय करता है। वह लड़ाता है और फिर हम कहते हैं कि दुनिया नास्तिक बनती जा रही है। आज मैं यही बताती हूँ कि नास्तिक कौन है और आस्तिक कौन है ?

एक ने कहा कि जो वेद को माने तो आस्तिक और जो न माने तो नास्तिक है, क्यों ? वेद का ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान है। दूसरा कहता है कि कुरान को मानो इसका ज्ञान सच्चा है। इस प्रकार मनुष्य एक चीज को ठीक बताता है और दूसरी को गलत बताता है। दूसरी बात को गलत बताने से धर्म तो नहीं आ सका लेकिन हां अधर्म अवश्य पनप गया। सम्प्रदाय अवश्य खड़े हो गये। इससे लड़ाई खड़ी हो गई और पृथ्वी पर शान्ति नहीं रह पायी। अशान्ति का प्रसार हो गया।

कौन सी चीज संसार में ऐसी है जो मनुष्य के हृदय में बैठे हुये परमात्मा की खोज न हो। हाँ, उसके बीच में जो यह बात लगा दी जाती है कि अमुक ज्ञान ही केवल ईश्वर का है यह बात अवश्य

ही ईश्वरीय नहीं है। यह मनुष्य के अहंकार की उपज है। इसी कारण पृथ्वी पर संघर्ष हो रहे हैं। एक बार शैतान ने अपनी पत्नी से कहा कि अब मैं निकम्मा हो गया हूं। पत्नी ने पूछा कि क्यों ? तो उसने उत्तर दिया कि क्योंकि मेरा काम अब धर्मानुयायियों ने ले लिया है, क्योंकि धर्मात्मा लोग धर्म की आड़ लेकर "यह मेरा शास्त्र है, यह दूसरे का है", इस प्रकार मेरा तेरा करके आपस में लड़ते हैं। इसी बात को लेकर वे एक दूसरे के मन्दिरों को तुड़वाने की फिक्र में रहते हैं, एक दूसरे के साधुओं का अपमान करने में प्रसन्नता अनुभव करते हैं और शैतान का काम क्या होता है ? मनुष्य के हृदय में जब स्वार्थ पनपता है, जिस समय वह धर्म का रूप लेकर दूसरों को मार रहा होता है बस उसी समय वही शैतान बन जाता है।

मनुष्य ने माना कि अमुक शास्त्र अच्छा है। पर इसको कौन कह रहा है कि अमुक शास्त्र अच्छा है। आज तो आपके मन में है कि यह शास्त्र ठीक है और कल को आप के मन में नहीं होता है तो उसको रोकने वाला कौन है ? आप आज कह रहे हैं कि कुरान सही है और कल को आप कहते हैं कि बाईबिल सही है और परसों को आप कहते हैं कि वेद सही है। यह निर्णय कौन दे रहा है ? क्या शास्त्र दे रहे हैं ? आज आप एक बात को सत्य कहते हैं और कल दूसरी को सत्य कहते हैं तो वास्तव में बात क्या है। शास्त्र की सत्यता-असत्यता शास्त्र पर निर्धारित नहीं है वह आपकी बुद्धि की अपेक्षा मांगती है। आपकी बुद्धि कह रही है कि यह शास्त्र ठीक है तो ठीक है वरना गलत है। आज आपको मेरे प्रति श्रद्धा है तो आपको मेरी बात ठीक लगती है और क्षण भर में बदल जायें तो···। मैं ठीक कह रही हूं या नहीं इस बात का कोई निर्णायिक नहीं है। आपकी बुद्धि मान रही है तो मैं ठीक कह रही हूं वरना आपको कौन रोकने वाला है कि आप यह कह दें कि बिल्कुल असत्य बात कही जा रही है।

वास्तव में सत्य-असत्य का निर्णायक शास्त्र नहीं बल्कि आपकी बुद्धि, आपका विवेक है। आपका विवेक कहता है कि कौन सी चीज सत्य है और कौन सी चीज असत्य है। आज आपने माना है कि यह

मेरा पुत्र है और कल को आपकी दृष्टि वदल जाये तो सारा सम्वन्ध एक मिनट में समाप्त हो जाता है। आज आप मानते हैं कि यह व्यक्ति मेरा है और मैं इसके लिये अपने प्राण भी दे दूं पर यदि कल आपकी दृष्टि वदल जाये तो क्या आप उसके लिये प्राण देना चाहते थे वास्तव में आप अपने लिये प्राण देना चाहते थे। किसके लिये चाहते थे ? कौन दिला रहा था ? क्या वाहर की चीज दिला रही थी ? वाहर का कोई नहीं दिला रहा था। केवल आपका हृदय दिला रहा था। आपका विवेक दिला रहा था। केवल आपकी मान्यतायें दिला रही थीं। वो मान्यतायें कौन हैं और किसमें होती हैं ? आपमें स्वयं में होती हैं। इसलिये आप स्वयं कौन हैं ? इसी को हमें जानना है। वाहर की चीज को नहीं जानना।

वाहर की चीज क्या है ? एक घिसीपिटी चीज है। जो हमारे महापुरुषों ने अपने ज्ञान को शब्दों में डाला. एक पात्र में डाल दिया, उस पात्र में से हमारे पास आने पर वह पुराना हो गया। और उसके पश्चात् भी न जाने कितने हाथों से वह गुजरते गुजरते हमारे पास आया। न जाने एक वाक्य पर ही कितनी टीकायें लिखी गयीं। उसका अभिप्राय कुछ हो पर टीका दर टीका होती जा रही है और अभिप्राय कुछ और वात कुछ वन गई। आप क्या रोज देखते नहीं हैं ? एक वात जो मैं आपसे कह रही हूँ उस बात को अनेकों लोग अनेकों ढंग से समझेंगे, और जो वात आप मुझ से सुनकर जायेंगे आप जव उसे दूसरे किसी को वतायेंगे तो वहां तक पहुँचते हुए इसका कुछ रूप हो जायेगा तथा जव वह वात और चौथे, पांचवें व्यक्ति तक पहुँचेगी तो वात कुछ और ही हो जायेगी। इस प्रकार से दस पांच व्यक्तियों के हाथ में वात पहुँचती हुई विल्कुल कुछ उल्टी ही वन जाया करती है तथा उसके अन्दर वह वास्तविकता नहीं रहती और फिर हम कहते हैं कि यह ही ज्ञान सच्चा है। कौन सा सच्चा ज्ञान है ? एक वात जो हम वर्तमान में कह रहे हैं वही दस पांच व्यक्तियों तक पहुँचते-पहुँचते क्या विडम्वना का रूप धारण कर लेती है। हम ऋषियों की वाणी को सुनते हुए उनके वाक्य को पढ़कर और टीका दर टीका पढ़कर क्या निर्णय कर सकते हैं कि यह वही ज्ञान है

जो तीर्थंकर महावीर ने बताया था या श्रीकृष्ण नारायण ने बताया था, या हजरत ईसा ने बताया था, अथवा वेदव्यासादि ऋषियों ने बताया था। नहीं कह सकते। इन सबका निर्णायक आपका स्वयं का विवेक है। जब आप स्वयं खोजेंगे तो आप सत्य को पा लेंगे।

एक बार का संस्मरण है। एक साधु युवानन्द जी एक बार अपने गुरू के पास गये। गुरू का नाम था मुक्तेश्वर जी। गुरू जी ने कुछ बात बताई। उसको सुनकर युवानन्द जी बहुत सन्तुष्ट हुये इस प्रकार दस पांच दिन तक रोज वे गुरू के पास बैठते और उनके उप-देश सुनते। गुरू जी ने बाद में बातें बताना बन्द कर दिया। अब युवानन्द जी सोचने लगे कि क्या मिलेगा इन बूढ़े गुरू जी के पास। ये पढ़े लिखे भी अधिक नहीं हैं इसलिये मुझे कहीं और जाना चाहिये। वे सोच रहे थे कि इनके पास तो एक आध बात थी वही गुरू जी बता देते हैं। अचानक ही वहां एक और युवा आ गये और रात्रि होने पर वे उसी आश्रम में ठहरे। रात्रि को उन्होंने लगभग २ घंटे तक उपदेश दिया। खूब शास्त्र की सूक्ष्म से सूक्ष्म चर्चा की और २ घंटे के बाद वे कुछ कहने ही वाले थे कि क्या देखते हैं कि मुक्तेश्वर जी की आँखों से अश्रु बह रहे थे। युवानन्द जी ने सोचा कि गुरू जी बूढ़े हो गये हैं और आज इतनी सुन्दर शास्त्र चर्चा सुनकर वे अन्दर ही अन्दर पछता रहे हैं और कह रहे हैं कि देखो ज्ञान हो तो ऐसा हो। बस ऐसे ही गुरू को मुझे भी गुरू बनाना चाहिये। अब आगन्तुक साधु ने मुक्तेश्वर जी से कहा कि ठीक लगा ना? मुक्तेश्वर जी ने उत्तर दिया मैं जब सोचूं कि आपने ठीक कहा जब आपने कुछ कहा तो हो। आपने तो कुछ कहा ही नहीं। आगन्तुक साधु ने कहा तो और कौन कह रहा था अब तक? मुक्तेश्वर जी ने कहा—आप नहीं बोल रहे थे। वह तो शास्त्र बोल रहे थे। मैं इसीलिये रो रहा था कि ये तो शास्त्र बोल रहे हैं लेकिन ये स्वयं नहीं बोल रहे हैं। अब युवानन्द की आंख खुल गयीं। हां ठीक है वास्तव में सब शास्त्र ही बोल रहे थे। वह स्वयं क्या कर रहा है उसका स्वयं का क्या मत है?

कुछ नहीं । कोरी शास्त्र की चर्चा थी । उसका अपना ज्ञान स्वयं का कुछ भी नहीं था ।

संसार में दो जगत हो गये । एक जगत तो वह जो वाहर के विषयों में रत है और जो कहता है कि कोई जीवन नहीं । खाओ पीओ और मौज करो । इन्द्रिय विषय ही जीवन है । इसे आज के जगत में नास्तिक भी कहा जाता है । वह संघर्ष कर रहा है । मनुष्य-मनुष्य को मारने को तैयार हो रहा है । लेकिन एक और भी है जो इस प्रकार से धर्म की आड़ लेकर और सम्प्रदाय खड़े करके और हर वात में शास्त्र के प्रमाण देकर मन्दिरों को लड़ा दिया, शास्त्रों को लड़ा दिया और मनुष्यों को लड़ा दिया और फिर भी वह कहता है कि मैं धर्मात्मा हूँ । । सर्टीफिकेट धर्मात्मा का और उसकी आड़ के अन्दर वही अन्याय और अत्याचार । इसको क्या कहेंगे ? मनुष्य ने केवल अपने अहकार को छुपाने के लिये वहुत सीधा सा मार्ग निकाल लिया । इस प्रकार ये आस्तिक कहलाने वाला व्यक्ति भी लड़ रहा है । अहिंसा असत्य को आश्रय दे रहा है । इन ही लोगों ने वास्तव में अपने जीवन का भी विनाश किया है और पृथ्वी को भी नरकमय वना दिया है । पृथ्वी के ऊपर शान्ति तभी आ सकती है जव मनुष्य के अन्दर स्वयं का विवेक जागृत हो जाये । जव वह जो चीज स्वार्थ की है, झगड़े की है, उसे अधर्म जानकर छोड़ दे और यह समझे कि जीवन क्या है ?

कोई भी शास्त्र हो, कोई भी पुराण हो, उसे पढ़कर खोजें अपने जीवन के अन्दर । अपने मन से अपने विवेक के द्वारा शास्त्र को समझें । उसे परखिये कि सत्य क्या है ? जव हम उसे अपने जीवन में परखेंगे तो उसको पायंगे ।

सामान्यतया कहते हैं जो वेद को मानता है सो आस्तिक है । इसी प्रकार जैन कहते हैं कि जो जैन शास्त्रों को मानता है सोई सम्यग्दृष्टि और दूसरे मिथ्यादृष्टि हैं । इसी ढंग से मुसलमान कहते हैं कि जो कुरान को मानता है वह मोमिन है और वाकी काफिर हैं । इस प्रकार एक विशेष शास्त्र का मानने वाला चाहे कितना वड़ा अत्याचारी हो उसके लिये स्वर्ग के द्वार खुले हुये हैं । और दूसरे के लिये नर्क के

द्वार खुले हुये हैं। फिर तो नर्क और स्वर्ग बड़ा सस्ता हो गया। फिर तो खूब पाप करो और बस शास्त्र पर हाथ रख दो कि यही ठीक है। परन्तु यह इतना सस्ता नहीं है। यह आस्तिकता नास्तिकता नहीं है। किसी भी महापुरुष ने ऐसा नहीं कहा है। हां स्वार्थी लोगों ने बाद में इसमें इस प्रकार की बातें डाल दी हैं। इस प्रकार उनकी आड़ के अन्दर दूसरे अहंकारी मनुष्यों ने लड़ने का अच्छा ढंग निकाल लिया। आस्तिक के आस्तिक और लड़ाई की लड़ाई। यह कभी भी धर्म नहीं हो सकता। आज के युग में जबकि मनुष्य की बुद्धि विकासशील है, यदि वह व्यक्ति जागृत है तो कभी भी इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं होगा। तो फिर आस्तिकता नास्तिकता क्या है ?

आस्तिकता कहते हैं अस्ति। जो चीज है उसी को अस्ति कहते हैं। जो चीज नहीं है वह नहीं है। जो चीज है और उसे जो मान रहा हो वह आस्तिक है और जो चीज है उसे जो न मानता हो वही नास्तिक है। यह शब्द का सीधा और सरल सा अर्थ है। नास्तिक भी किसी न किसी ढंग से वस्तु को मानता ही है। जो चीज जैसी है उसे उसी रूप में ही मानना यही आस्तिकता है। इसे सूत्रकार ने इस ढंग से कहा है—तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं। तत्वार्थ का क्या अर्थ है ? तत्वार्थ तीन शब्दों से बना है—तत् + त्व और अर्थ। तत् से तात्पर्य वह, और वह सर्वनाम है जो संज्ञा की अपेक्षा रखता है तो वह से क्या मतलब ? अमुक दिल्ली गया। भई कौन गया ? नाम बताओ। मोहन दिल्ली गया। अब उसके पश्चात् कहीं भी 'वह' लगा दीजिये तो उस 'वह' से समझा जायेगा, कि मोहन के लिये प्रयोग हुआ है। बस इसी ढंग से 'तत्' से समझा जायेगा जो कि अभिप्रेत हुआ है। त्व से मतलब है उसका भाव। जैसा उसका भाव हो—जैसे अग्नि का स्वभाव है उष्णपना। तो तत् व त्व इन दोनों को मिलाने से तत्व बन जाता है। 'अर्थ' से तात्पर्य है कि द्रव्य, गुण, पर्याय को जानना। संसार के अन्दर कितने पदार्थ हैं ? उनके अन्दर उनके क्या स्वभाव हैं आदि ? तत्व और अर्थ को मिलाने से

बन जाता है तत्वार्थ। तो संसार में जितने भी पदार्थ हैं उनको जो जानता हो, उनको मानता हो और पहिचानता हो तो उसको कहेंगे तत्वार्थ श्रद्धानं।

पदार्थ से तात्पर्य है द्रव्य का। द्रव्य की दो प्रकार की शक्ति होती है एक त्रैकालिक और दूसरी क्षणिक। त्रैकालिक शक्ति जैसे आम के अन्दर रस स्पर्श और गंध ये त्रैकालिक शक्तियां हैं। जो क्षणिक शक्तियां होती हैं उन्हें जैन दर्शन में पर्याय कहा गया है। जैसे आम में हरा रंग है। यह 'रंग हरा है' पर यह बदलता रहता है। इन क्षणिक रूपों को और त्रैकालिक शक्तियों को और उस आम नाम के द्रव्य को अर्थात् इन तीनों चीजों का जो भाव है उस भाव सहित जो जानता हो उसका नाम कहा जायेगा तत्वार्थ श्रद्धान। जो भी संसार में वस्तुयें हैं उनके स्वभाव को परख लेना ही तत्वार्थ श्रद्धान कहलायेगा और जो तत्वार्थ श्रद्धान करता है वही समझता है कि सत्य क्या है और असत्य क्या है? वह उसको मान ही नहीं रहा वल्कि अपने विवेक के द्वारा उसे समझ रहा है और अपने जीवन के अन्दर कस रहा है।

तत्वार्थ श्रद्धान से तात्पर्य क्या है? हमारे दो जीवन हैं एक अंतरंग का जीवन और दूसरा वाहर का जीवन। अंतरंग के जीवन को अपनी आत्मा को जो स्वयं में देखता हो उसको भी परखता हो और जो वाहर की चीज है उसे भी समझता हो तथा जो अंतरंग जीवन की प्रेरणा को समझता हो, उसके स्वभाव को समझता हो; अपने अंतरंग जीवन की मांग को जानता हो और उसके अनुसार उसे पूरा करने का प्रयत्न करता हो तो उसे कहेंगे कि उसने अंतरंग जीवन को, अपनी आत्मा को समझा है। और दूसरा व्यक्ति जो वाहर के जीवन को समझता हो कि वाहर का जीवन क्षणिक है, वह विनाशशील है, उनके अन्दर केवल अणु सत्य है वाकी सब विनाशशील है उसी प्रकार से कि जिस प्रकार से समुद्र के अन्दर लहरें उत्पन्न होती हैं और विनष्ट हो जाती हैं,

फिर उत्पन्न होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं। इसी प्रकार बाहर का जगत भी उत्पन्न हो रहा है और विलीन हो रहा है। जो उसके स्वभाव को जैसा है वैसा ही जानता हो तो उसने विवेक दृष्टि को समझा और ऐसा विवेकी ही सत्य की सत्ता को समझने के कारण आस्तिक कहलायेगा। क्यों? क्योंकि वह समझ रहा है कि मेरा जीवन क्या है? वह अंतरंग जीवन की शांति के लिए प्रयास कर रहा होगा। वह अपने अंतरंग जीवन में भी शान्ति लायेगा तथा दूसरे के अंतरंग जीवन की भी रक्षा कर रहा होगा। वह स्वयं भी सुखी होगा और दूसरे को सुखी बनाने का प्रयास कर रहा होगा। ऐसी ही बातें जिनसे जीवन के अन्दर शान्ति मिले, वह कहीं से भी प्राप्त होती हों लेता है अतः वह व्यक्ति आस्तिक कहलायेगा।

जो इसको नहीं समझता है और बाहर के नश्वर जीवन के प्रति भागा जा रहा है और उसी को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न कर रहा है और अपने हृदय को न समझकर उसकी मांग को ठुकरा देता है—वो औपचारिक रूप से नास्तिक है। औपचारिक इसलिये कहा क्योंकि वास्तव में वह नास्तिक नहीं है। क्यों? क्या वह हृदय की प्रेरणा को नहीं समझता? हृदय के अन्दर जब क्रोध प्रज्ज्वलित होता है तो क्या उसके हृदय के अन्दर से आवाज नहीं आती कि 'क्रोध मत कर और शान्ति में चल'? क्या वह उस प्रेरणा से किसी शान्त स्थान पर जाने का प्रयास नहीं करता? करता है। उस समय उसके मन में आता है कि कहीं भी चल और इस झंझट से दूर हो जा। भले ही वह धर्म को न जानता हो, भले ही वह शास्त्रों को न मानता हो लेकिन उसके हृदय की आवाज उसे प्रेरणा दिया करती है। और इसी प्रेरणा से वह चल देता है—भले ही उसकी दिशा गलत हो, भले ही वह बाहर की ओर दौड़ रहा हो, लेकिन वह अपने हृदय की प्रेरणा को परख कर ही तो चल रहा है। बस उस हृदय की प्रेरणा को जो सुन रहा है वह किंचित अर्थों में आस्तिक ही है।

ईश्वर या परमात्मा कहीं और नहीं वह तो आपके हृदय में है। जो हृदय की पुकार को सुन रहा है वह परमात्मा को देख रहा है। जिस समय कोई बुरा काम करता है तो उसका हृदय उसे धिक्कारता है, जिस समय अच्छा काम किया जाता है तो मन में सुन्दर भाव उत्पन्न होते हैं। लेकिन यदि उसे समझकर भी आपकी दिशा दूसरी ओर, बाहर की ओर जा रही है तो आप भटक जाते हैं और वास्तविक आस्तिकता नहीं बन पाती है। इसी को जैनाचार्यों ने सात तत्व कहा है। जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष। सूत्रकार ने इस पर यह सूत्र बनाया—जीवाजीवास्रवबंधसंवर निर्जरा मोक्षास्तत्वम्। जीव क्या है और जड़ क्या है? उनके स्वभाव को समझें और खोजें। अस्तिपना क्या है इनमें? और फिर ये कैसे एक दूसरे से मिल गये हैं?

हमारे जीवन के अन्दर पाप कैसे प्रवेश कर रहा है उसको जानना सो आस्रव कहलाता है और हमारे जीवन में ये दुष्प्रवृत्तियां कैसे एकमेक हो गयी हैं इसको समझना वन्ध तत्व कहलाता है। इन प्रवृत्तियों को कैसे छोड़ा जा सकता है ऐसे सिद्धान्त को जानना सो संवर कहलाता है। पहले पड़े हुये पाप के संस्कार कैसे तोड़े जा सकते हैं ऐसा जानना सो निर्जरा कहलाता है। इससे आगे सिद्ध अवस्था को प्राप्त करना अथवा उसे प्राप्त करने का उपाय करना वह मोक्ष तत्व कहलाता है।

इन सात तत्वों को जो अपने जीवन के अन्दर खोज करके पा लेता है वो ही वास्तव में आस्तिक कहलाता है। वह अपने जीवन से पाप को निकाल रहा है, और सत जीवन को प्राप्त कर रहा है। असत्य से हट रहा है और सत्य की ओर जा रहा है। नास्तिक असत्य की ओर दौड़ लगाता है परन्तु फिर भी उसके हृदय की प्रेरणा उसे आस्तिकता की ओर ले जाना चाहती है। नास्तिक भी यदि हृदय की प्रेरणा को समझकर उसे अपने जीवन के अन्दर खोजे, और यदि वह सात तत्वों के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करे, अपने हृदय को समझ कर उसकी प्रेरणा के अनुसार चले, तो वह भी असत्य जगत

से हट जायेगा। असत्य जगत के रूप को जानकर असत्य से हटना और सत्य में पहुँचना ही आस्तिकता है। सत्य को छोड़कर वाहर असत्य की ओर भागना नास्तिकता कहलाती है।

आप सच्चे अर्थों में आस्तिक कव वन पायेंगे? विवेक दृष्टि आपकी कव वन पायेगी? जिस समय आप अपने ही विचारों के द्वारा सत्य को खोज निकालेंगे। जव आप सत्य को खोज लेंगे फिर आपका ज्ञान आपके साथ आत्मसात हो जायेगा और फिर आप अपने ज्ञान को मिलाइये किसी भी शास्त्र से पढ़ लीजिये गीता को, कुरान को, वाईविल को या समयसार को। आपको दिखाई देगा कि वही है जिसे आपने पाया है। इससे यह लाभ होगा कि आपके लिये जो ज्ञान पराया वना हुआ था वह आपके रक्त के साथ एकमेक हो जायेगा। तभी सच्चे अर्थों में आपके अन्दर आस्तिकता पनप सकेगी।

वर्तमान पीढ़ी और धर्म

दो पत्थरों को रगड़ने से तो अग्नि पैदा होती है परन्तु दो कलियों के मिलन से आनन्द पैदा होता है। उस आनन्द का वर्णन नहीं किया सकता। वहां पर मानो दो चेतनायें मिल जाती हैं और दो चेतनायें ही क्या? वो जो दो चेतनायें मिलती हैं क्या शेष चेतनायें उससे पृथक जायेंगी? ऐसा भी नहीं है। शेष चेतनायें भी मानों सबको आंखें और सबकी आंखों के रास्ते से सबके हृदय निकलकर उस चेतना के साथ एकमेक हो जायेंगे और वो ही होगा अखंड प्रेम। वो ही तो होगा धर्म और धर्म किसको कहेंगे? दीवारों में धर्म है, मन्दिर में धर्म है, क्या शास्त्रों में धर्म है? नहीं। वो तो उसी भाव के, उसी जीवन के रूप को शब्दों में लिख दिया गया है। शब्द जड़ है उस भाव को बता नहीं सकते। लेकिन एक बताने का उपक्रम किया गया है कि जो धर्म होता है तो उसका क्या रूप होता है। धर्म यदि जीवन में प्रगट हो जाता है तो उसकी बाह्य क्रियायें कैसी हो जाती हैं, उसके बाहर का आचरण कैसा हो जाया करता है, उसका बाहर में दूसरों के प्रति व्यवहार कैसा हो जाया करता है। एक रूप बताया गया है।

क्या वे क्रियायें ऐसी हैं जिन्हें कर लिया जाये और बस धर्म हो गया? क्या जितनी भी धार्मिक क्रियायें बताई गयी हैं वे ऐसी हैं जिनको करके सन्तुष्ट हो जाया जाये? यदि आपसे कहा जाये कि अमुक छोटे बच्चे को आप प्रेम करें तो क्या ऐसा करने में आपको आनन्द आयेगा? प्रेम की क्रिया करने से, उसे गोद में ले लेने से, उसे पुचकारने से क्या आपको रस आयेगा? कभी नहीं आ सकता। प्रेम एक ऐसा भाव है जो स्वमेव होता है। जब हृदय में ममता जगती है, जब हृदय के अन्दर कुछ वात्सल्य भाव जगता है, जब हृदय के अन्दर

आत्मीयता जगती है तब कहने की आवश्यकता नहीं होती कि बच्चे को गोद में उठालो। तब कहने की आवश्यकता नहीं होती कि तुम बच्चे को पुचकार लो। न मालूम कब और क्यों आपके हाथ अपने आप ही उठ जाते हैं। दूसरा कोई आपको रोकता है तब भी आपके पांव चल देते हैं, क्यों ? क्योंकि आपके हृदय में भाव जग गया है और उससे न मालूम कैसी क्रियायें हो जाती हैं। आप सोच नहीं सकते हैं कि आपने प्रेम की कोई क्रिया की। वह तो बस हो गया। प्रेम वह भाव है जो हृदय से होता है। वह करने की चीज नहीं। बस यही बात धर्म के लिए भी है। धर्म भी होने की चीज है करने की चीज नहीं। वह हृदय से होता है।

हम धर्म को समझते हैं कि जिस प्रकार से नाटकशाला के अन्दर एक नाटक खेल दिया जाता है, महापुरुषों की जीवनगाथा को एक अभिनय के ढंग से मंच पर प्रस्तुत कर दिया जाता है इसी तरह धर्म भी कुछ अभिनय करने की चीज है या धर्म भी कोई ऐसी चीज है जिसका रूप प्रदर्शन मंचों के ऊपर किसी स्थान विशेष जैसे मन्दिरों में, मठों में, मस्जिदों में या गिरजाघरों में कर दिया जावे। ऐसा ही कोई रूप हो ऐसी बात नहीं है। यदि ऐसा होता तो मैं कहूँ कि क्या कोई पुरुष स्त्री के कपड़े पहन ले तो कपड़े पहनने से क्या वह स्त्री बन जायेगा। स्त्री के कपड़े पहनने से कोई पुरुष स्त्री नहीं बन सकता। इसी प्रकार साधु संन्यासी के वस्त्र पहनने से कोई साधु नहीं बन सकता। इसी प्रकार धर्म का अभिनय करने से धर्म नहीं हो सकता।

ऐसा ही एक बात थी। दो मित्र एक लड़ाई के अन्दर घायल हो गये। दोनों ही परस्पर में सहृदयता रखते थे। दोनों चाह रहे थे कि मैं अपना कुछ सुख अपना कुछ पुण्य दूसरे को दे दूं। इस पर विचार करते-करते एक मित्र ने कहा कि जीवन में मैंने जितने पुण्य किये हैं उसकी पुस्तक मैं तुम्हें देना चाहता हूँ। दूसरा इस बात को सुनकर रो पड़ा। उसने कहा-- भैय्या दूसरों के हाथ की लिखी पुस्तकें तो बदली जा सकती हैं पर जीवन नहीं बदला जा

सकता। हृदय नहीं बदला जा सकता। वह बदलने की चीज होती तो बहुत सरल हो गया होता। वह दी जाने वाली चीज नहीं है। वह होने वाली चीज है। व्यक्ति का स्वयं का हृदय ही धर्म है। धर्म इसी से प्रगट होता है।

आज विज्ञान युग है। विज्ञान की इतनी प्रगति हो रही है, इतना विकास हो रहा है। यह विकास क्यों हो रहा है? इस विकास ने जो साधन हमको दिये हैं क्या वह साधन हमको किसी प्रकार सुख दे सकते हैं? यह एक विचारने की बात है। विकास किया ही क्यों जा रहा है? पहले हम इसी बात पर विचार करेंगे।

जीवन की यात्रा दो प्रकार की होती है (१) बाहर की (२) अन्तरंग की। बाहर की यात्रा पर जो होता है वह बाहर की परि- धियों पर घूमता है और भटक जाता है। परन्तु एक यात्रा भीतर की भी है। यह यात्रा अज्ञात की है क्योंकि आज तक जाना नहीं गया है। वहां पर पहुँचने से कुछ प्राप्ति होती है। उस सत् जीवन की, उस सत् वस्तु की, उस आनन्द की हमें प्राप्ति होती है जो अमर है जो कि हम स्वयं हैं। वहीं परिपूर्णता है वहीं पर हम स्वयं का वास है। परन्तु जब व्यक्ति वहां तक नहीं पहुँच पाता तो अन्दर से रिक्त हो जाता है, दुखी हो जाता है। जब भीतर में रिक्तता होती है तो भीतर में दरिद्रता होती है। जब भीतर में अभाव होता है, अशान्ति होती है, तब व्यक्ति उस अशान्ति से, उस दरिद्रता से उस अभाव से पीड़ित होकर बाहर की ओर भागा करता है। जिस किसी प्रकार से वह बाहर की चीजों को लाकर अन्तरंग की दरिद्रता को ढांप दे। परन्तु बात एक अनोखी हो गई। अंतरंग की दरिद्रता बाहर के धन से ढांकी नहीं जा सकती। हालांकि बाहर का धन प्राप्त हो जाने के बाद वह दरिद्रता कुछ ढक सी जाती है परन्तु वह अभाव सदा खटकता रहता है और उस अभाव से पीड़ित होकर मनुष्य बाहर से अन्दर भागता है और भागता जाता है और आविष्कार करता है कि किसी प्रकार से वह अन्तरंग को पूर्ण कर सके। उस अणु को महान बना सके परन्तु

वह वन नहीं पाता। फिर और खोज करता है। खोज करता चला जा रहा है। वरावर विज्ञान के अन्दर वढ़ता चला जा रहा है और अनेकानेक साधन प्राप्त करता जा रहा है परन्तु इतना कर लेने के बाद भी वह अभाव भर नहीं पाया और इसी लिए मनुष्य का चित्त विक्षिप्त हो गया। उसकी जीवन की जड़ें हिल गयीं।

जिस प्रकार से एक पौधा अपने स्थान से हिल जाये तो फिर पुनः चाहे जितना उसे जल दीजिये, चाहे जितनी बाल्टी पानी उस पर गेर दीजिये परन्तु क्या उस पौधे के अन्दर पुनः जीवन आ सकेगा ? कभी नहीं आ सकता। क्यों ? क्योंकि वह अपने स्थान से हट गया है। इसी प्रकार से मनुष्य भी अपने स्थान से हट गया है और हट भी क्या गया है यदि पहले से जमा हुआ हो और फिर हट जाये तो भी हम उसे कहें कि वह अपने स्थान से हट गया है। सदियों से ऐसा ही चलता आया है कि मनुष्य अपने जीवन के केन्द्र से हट गया है। उसके जीवन की जड़ें हिल गयीं हैं। जहां जीवन का केन्द्र है वहां नहीं पहुंच पाया और इसी कारण से वह वाहर भटका और विज्ञान में खोज की परन्तु फिर भी अभाव बना रहा और उससे विक्षिप्त होकर मनुष्य आज खड़ा है जिसके हाथ में शक्ति है। ऐसे विक्षिप्त चित्त वाले व्यक्ति के हाथ में यदि शक्ति हो तो आप विचार सकते हैं कि वह किस काम में आयेगी। वह तो विनाश के काम में ही आयेगी। जब व्यक्ति का चित्त अशान्त होता है तो हाथ में आया हुआ पत्थर वह सामने वाले के माथे पर दे मारता है परन्तु शान्त होता है तो वही पत्थर उसका मकान और महल वनाने के काम आता है। विक्षिप्त चित्त हो गया इसलिये अब मनुष्य एटम की खोज कर रहा है ताकि अन्तरंग की विक्षिप्तता को किसी प्रकार से वह शान्त कर सके, उसको दूर कर सके परन्तु वह दूर नहीं हो पायी और फिर वह आ खड़ा हुआ है ऐसे स्थान पर कि जहां से हो सकता है इसी क्षण उसका विनाश हो जाये। किसी भी क्षण सारी पृथ्वी पर प्रलय हो जाये। हो सकता है कि सारी पृथ्वी विध्वंस हो जाये और हो सकता है उस विक्षिप्तता से उसके अन्दर कोई जागृति आ जाये, कोई प्रकाश आ जाये। कुछ और

नवीन खोज जो आज तक न हुई हो उसकी बुद्धि उसको उस ओर ले जाये। उस अज्ञात की भी वह खोज कर ले और उसकी खोज कर लेने के पश्चात उसके जीवन के अन्दर शान्ति आ जायेगी। जितनी विक्षिप्तता है उसका विनाश हो जायेगा। इस पृथ्वी पर वह एकता होगी, वह संगठन होगा, वह धर्म होगा जिसकी हम प्रतीक्षा करते हैं, जिसकी हम उपासना करते हैं। आज तक हमने उस धर्म को केवल शास्त्रों के आगे और मन्दिरों में जाकर हाथ जोड़कर ही उपासना की है परन्तु जीवन के अन्दर उपासना नहीं की है। मैं कहती हूं कि आज विज्ञान युग है। विज्ञान ने हमें अन्ध-विश्वासों से हटा दिया। विज्ञान ने हमको रूढ़ियों पर से हटना बता दिया। उसने हमें एक बुद्धि दी है जो विश्वास और अविश्वास से परे है। पहले सदियों से अन्ध-विश्वास सिखाया जाता था। इस बात को मान लो। ऐसा मानने से तुम्हें मोक्ष मिल जायेगा और यदि नहीं मानते हो तो नर्क में जाओगे। इस प्रकार के भय और प्रलोभन ने मनुष्य का एक द्वार बन्द कर दिया। उसे प्रगति से रोक दिया। बस आगे मत बढ़ो। मान लो हमारी बात को। लेकिन एक समय आया जब व्यक्ति ने अन्ध-विश्वास को तो छोड़ दिया लेकिन क्रान्ति के द्वारा दूसरा एक और विश्वास ले आया जो उस विश्वास से कुछ और ऊपर था। नया रूप धारण कर लिया। लेकिन वह विश्वास भी कैसा रहा। दूसरा रूण धारण करके आ गया। विश्वास ज्यों का त्यों रहा मार्ग बन्द कर दिया। लेकिन एक तीसरी चीज और रही जिसने कहा कि धर्म कुछ नहीं वह बेकार की चीज है। अविश्वास की चीज है और उसने भी खोज बन्द कर दी।

मैं कहती हूँ कि विज्ञान ने एक दिशा दी है न विश्वास है और न अविश्वास है। खोज करो। चीज क्या है? सत्य क्या है? जीवन क्या है? उसको खोजो। उसको खोज लेने के बाद जो तुम देख पाओगे वह सत्य होगा और वो ही धर्म होगा। इस खोज के आधार पर ही हमारे साहित्य बढ़ते गये हैं। इस खोज के आधार पर ही नये-नये रूप धर्म के प्रवर्तित होते रहे हैं क्योंकि जिन्होंने लिखा उन्होंने

खोज करके लिखा। और इस प्रकार शास्त्रों का विस्तार होता गया। परन्तु जिन व्यक्तियों ने खोज नहीं की, जिन्होंने उसे ढूंढा नहीं उन्होंने उसे पाया नहीं। और जिन्होंने पाया नहीं वे व्यक्ति दूसरे के कुंए से लाये हुये जल को लेकर लड़ते हैं झगड़ते हैं। जिस प्रकार से आप तालाब से जल लेकर आये, दूसरा व्यक्ति कुएँ से जल लेकर आया और तीसरा एक समुद्र से जल लेकर आया। भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न स्थानों से जल लेकर आ रहे हैं और आपस के अन्दर लड़ रहे हैं। एक कह रहा है कि मेरा जल अच्छा है। क्यों? क्योंकि यह कुएँ का है। दूसरा कह रहा है कि मेरा तालाब का जल अच्छा है। क्योंकि तालाब को पवित्र करके बनाया गया है। सब लड़ रहे हैं आपस के अन्दर। क्यों? क्योंकि उनका अपना जल ही नहीं है। जिनका स्वयं का जल है जो स्वयं कुँआ है वह कुँआ किसी से लड़ने नहीं जाता। वह देना जानता है। उसके पास अपनी चीज है वह दे रहा है। वह नहीं कहता कि किसी का जल गन्दा है। किसी का जल थोड़ा है। बस वह बांटना जानता है। उसके अन्दर भेद नहीं होता। बस इसी प्रकार से जिन्होंने अपने जीवन के कुएँ को खोद लिया है उन्होंने पा लिया है और वे अपने जीवन के कुएँ से पाये हुए जल को बांटते रहते हैं। वो कभी भेद नहीं करते। लेकिन जो व्यक्ति लेकर आता है खरीद कर लाता है मैं तो ईसा से लाया हूँ और दूसरा कहता है कि मैं बुद्ध से लाया हूँ और तीसरा कहता है कि मैं महावीर से लाया हूँ वह आपस में झगड़ रहा है।

जो धर्म शान्ति देने वाला है उस धर्म के नाम पर लड़ाई, बड़ी हास्यास्पद बात है। बड़ी खेद की बात है कि जो जीवन में संगठन उत्पन्न करने वाला है उस धर्म पर ही लड़ते और झगड़ते हैं। वास्तव में जितने संघर्ष हुए हैं वह धर्म के नाम पर हुए हैं। धर्म की आड़ में हुए हैं। अधर्म के नाम से इतना युद्ध नहीं हुआ जितना कि धर्म के नाम पर हुआ है। धर्म का चोगा पहिनकर और लड़ाई। धर्म और लड़ाई कैसे हो सकती है?

अनेकान्त और स्यादवाद और फिर लड़ाई। जो सब झगड़ों

को मिटाने वाला है, जो जीवन को हर दृष्टिकोण से देखने वाला है उस परिपूर्णता के अन्दर लड़ाई। नदियां लड़ सकती हैं लेकिन सागर नहीं लड़ा करते वो हमेशा देना जानते हैं। हमेशा ही नदियां सागर में जाकर समाविष्ट हो जाया करती हैं। इसी प्रकार से स्याद् वाद और अनेकान्त के अन्दर जितनी भी नदियां हैं वह सारी आकर प्रविष्ट हो जाया करती हैं। और फिर भी वह सागर पूर्ण का पूर्ण रहता है। उसके अन्दर कभी भी कमी का आभास नहीं होता। उसके अन्दर कभी भी अधिकता का आभाम नहीं हुआ करता। वह जैसा भी है पूर्ण वैसा का वैसा ही रहा करता है। बस इसी प्रकार से जब जीवन के अन्दर धर्म आता है, जब स्वयं के जीवन के अन्दर प्रकाश आता है तब व्यक्ति एक पूर्ण सागर बन जाता है और वह देता है बांटता है वह भेद नहीं करता। बस ऐसा ही रूप धर्म का कहा जाता है।

आप अपने जीवन को देखिये। क्या आपके जीवन के अन्दर ऐसा प्रकाश हो पाया ? क्या आपके जीवन के अन्दर ऐसा अमृत आ पाया कि जिसके अन्दर आप सबको एक रूप से देख पाये हैं। क्या आपके जीवन के अन्दर इस प्रकार की शान्ति आ पायी है कि जिसके कारण से आपके हाथ में आई हुई शक्ति आपसे किसी व्यक्ति का संहार न करा सके ! क्या ऐसा बल आपके अन्दर जागृत हो पाया है ? नहीं। हम उसे खोज ही नहीं पाते। हम देख ही नहीं रहे। हम तो दुखी हो भाग रहे हैं उसी प्रकार कि जिस प्रकार से हिरण अपनी नाभि के अन्दर कस्तूरी होते हुए भी जंगल के अन्दर भागा फिरता है और फिर अशान्त हो जाता है। निराश होता है और फिर भागता है परन्तु वह नहीं देखता कि कस्तूरी उसकी नाभि के अन्दर ही है। जब तक वह वहां नहीं देखेगा तब तक उसे घूमना पड़ेगा।

देखिये अपने जीवन को। सवेरे से लेकर शाम तक कहां जा रहा है ? सवेरे उठते ही अमुक से मिलना है अमुक कार्य करना है ; जल्दी जैसे तैसे शरीर पर कपड़े डाले और पानी पी लिया। फुरसत नहीं है समय नहीं है अपने बच्चों से प्यार करने का, अपनी पत्नी से बोलने का, अपनी माता को सांत्वना देने का। आज तो शौच करते हुये भी

अखवार चाहिये। शौच में भी ट्रांजिस्टर लगाये जा रहे हैं। क्यों? क्योंकि मन के अन्दर अभाव है। उस अभाव को भुलाने के लिये वो इन चीजों का प्रयोग करता है और फिर भागता है। खैर किसी प्रकार लौटकर घर आये तो जोर से भूख लगी होती है। बस चिल्ला रहे हैं। भूख जो लगी है। मन के अन्दर जो विक्षिप्ता है उससे चित्त अशान्त है और इसीलिये घर वालों के ऊपर दस पांच बातें डाल दीं उन्हें सुना दीं। वौछारें पड़ गयीं और खाना लेकर वैठे ही थे कि दो ग्रास मुंह के अन्दर डाले ही थे कि टेलीफोन खड़क गया। कान में टेलीफोन है मुंह के अन्दर ग्रास है और फिर चल दिये। आधा पेट भरा या नहीं भरा। चले जा रहे हैं घर में बच्चे चिल्ला रहे हैं पर कौन सुनता है। चले जा रहे हैं शहर के इस कोने से उस कोने तक। बस पहियों का जीवन रह गया है। रात्रि हुई तो घर आये। सर्दी का पता नहीं है, गर्मी का पता नहीं है, भूख का पता नहीं है, प्यास का पता नहीं है, घर की परवाह नहीं है और आकर चुपचाप विस्तर पर लेट गये। पत्नी किसी अभाव को कह रही है लेकिन वहां अवकाश ही कहां है। कह दिया सोने दो और सो गये। लेकिन मन के अन्दर जो दिन के अधूरे काम हैं उन्हें रात्रि में पूरा कर रहे हैं। सुबह उठकर ये करना है वो करना है। नींद नहीं आ रही है। बेचैन हैं। मस्तिष्क के द्वारा निरन्तर काम हो रहा है और फिर हम कहते हैं कि वीमार हो गये।

चित्त विक्षिप्त है और उस विक्षिप्तता से शरीर भी विक्षिप्त हो गया, वह वीमार हो गया। मन भी वीमार हो गया। दोनों ही वीमार हो गये और जीवन का संतुलन नहीं हो पाया। और फिर हम कह रहे हैं कि हम जी रहे हैं। क्या यही आज का हमारा जीवन बना हुआ है? जीवन इसको नहीं कहते। वह मृत्यु में रह रहा है। जो इस नश्वर वस्तु के पीछे भाग रहा है वह स्वयं से पलायन कर रहा है वह जीवन नहीं मृत्यु है।

धर्म इसी बात को पुकार रहा है। प्रत्येक व्यक्ति का मन पुकार रहा है कि एक वार तू देख। जिसके लिये तू भाग रहा है वह चीज

वाहर नहीं है वह तो तेरे अन्दर में है। तू इसे एक वार अन्दर में आकर खोज तो ले। और जिस दिन भीतर की खोज कर लेगा उसी दिन सारी दौड़ समाप्त हो जायेगी।

आज युवक वर्ग धर्म को अविश्वास की दृष्टि से देखता है, क्यों? क्योंकि हमारे रूढ़िवादियों ने उनको लकीर पर चलने की प्रेरणा दी है। परन्तु विकसित हुआ मस्तिष्क उस वात को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। मैं कहती हूँ कि अन्ध-विश्वास नहीं करना चाहिये। हमको खोज करनी चाहिये। वहुत समय के पश्चात ऐसी वुद्धि प्राप्त हुई है और यही उसको खोज करने में समर्थ हुआ करती है और खोज कर लेने पर ही उसकी प्राप्ति हुआ करती है। अब ऐसा समय आ गया है कि जब मनुष्य को अपने अंतरंग का अभाव खटकने लगा है। मत समझिये कि धर्म का अभाव हो रहा है। मैं कहती हूँ कि हालांकि व्यक्ति जा रहा है फिर भी वह अपने चित्त को देख रहा है और इसीलिये पुनः पुनः वह चाहता है, उसकी प्यास है कि मुझे कुछ सत्यता मिल जाये। सत्यता को चाहता है वह रूढ़ि को नहीं चाहता।

कभी समय विकास का होता है और कभी विश्वास का होता है। समय इसी प्रकार से परिवर्तित होता रहता है। जव विश्वास और अधिकता को पहुँच जाता है तो उसके पश्चात् क्रान्ति आया करती है और क्रान्ति का समय आज हो सकता है। ऐसा समय आ गया है जव धर्म के सच्चे रूप की खोज होगी। यदि व्यक्ति अपने भीतर के अन्दर खोजेगा तो उस खोज कर लेने के वाद वह जिस धर्म को पायेगा तो सभी सम्प्रदाय उखड़ जायेंगे। अव सम्प्रदायों के उखड़ने का समय आ गया है। हमारे वुजुर्ग सम्प्रदाय के नाम पर लड़ते हैं लेकिन नयी पीढ़ी नहीं लड़ती है। नया लड़ता नहीं वह खोज करना चाहता है। नया व्यक्ति हर वात को अनुभव की कसौटी पर कस लेना चाहता है। पुराने व्यक्तियों के पुराने मस्तिष्क हैं उनके वासी दिमाग हो गये हैं। वो ही व्यक्ति ऐसे हैं जो दूसरे धर्म की अथवा दूसरे सम्प्रदाय की वात

उसे पाप समझते हैं क्योंकि पुराने को पुराने का मोह हुआ करता है नये व्यक्ति को मोह नहीं होता।

आप देखेंगे कि पुराने व्यक्ति अपनी पुरानी झोंपड़ी से मोह करते हैं, प्यार करते हैं इसी कारण वह उसे तोड़ना नहीं चाहते। उसको बनाये रखना चाहते हैं। परन्तु नयी पीढ़ी-वह नया निर्माण करना चाहती है। नयी बिल्डिगें बन रही हैं परन्तु पुराने झीक रहे हैं। इस नये खून के जोश ने सारा गड़बड़ कर दिया है क्यों? क्योंकि पुरानों की धारणायें टूट रही हैं उनकी सारी मान्यतायें नष्ट हो रही हैं। नया व्यक्ति आ गया। नया आता है तो नया बनाता है। बस धर्म भी अभी तक पुराने व्यक्तियों के अन्दर रहकर पनप रहा था अन्ध-विश्वास के आधार पर। और अब नयी पीढ़ी जो सामने आ रही है वह उस पुराने को ढाकर नया धर्म बना रही है, वह एक धर्म बनायेगी। एक रूप बनायेगी। आप देखते होंगे कि बिल्डिंग भी एक जैसी बनती हैं। एक मकान जैसा नयी बस्ती में बनता है उस बस्ती में सभी मकान उस जैसे ही बनते हैं। सबके अन्दर एक जैसा ही डिजाइन है। बस धर्म भी एक बनेगा। उसके अन्दर सम्प्रदाय के भेद नहीं होंगे। कौन बनायेगा? नयी पीढ़ी ढ़ंग से बनायेगी। लेकिन पुराने व्यक्तियों को पुरानेपन का मोह छोड़ना पड़ेगा। वे छोड़ेंगे तो उनका भी कल्याण यदि नहीं छोड़ेंगे तो वह झीकते रह जायेंगे और नयी पीढ़ी नया महल खड़ा कर लेगी। सारे संसार में आनन्द फैल जायेगा।

बस धर्म भी नया बन रहा है। पर नया भी कैसा? जो पहले से चली आ रही है वह असली चीज कभी नष्ट नहीं होती। उसका कभी अभाव नहीं हुआ करता। बस धर्म भी नया नहीं बना करता। उसका कभी अभाव नहीं होता। धर्म की प्रलय नहीं हुआ करती, उसके रूपों का प्रलय हुआ करता है। सम्प्रदाय टूटते हैं, सम्प्रदायों का विनाश होता है, उनकी अपनी धारणाओं का विनाश होता है लेकिन धर्म का कभी विनाश नहीं होता। वह सदा एक जैसा रहता है और एक जैसा ही सबकी अनुभूतियों में आया करता है। धर्म एक रूप है और इसलिये वह मानव के अन्दर एकता उत्पन्न

करता है, सहिष्णुता उत्पन्न करता है और मानव को जीवन प्रदान करता है। एक सूत के धागे के अन्दर मानो सभी व्यक्तियों को पिरो दिया करता है और फिर पृथ्वी पर सुख शान्ति का वास रहता है। इसके अतिरिक्त धर्म किसको कहेंगे?

केवल चीटी को बचाना या पानी छानकर पीना ही धर्म नहीं है। कुएँ के ऊपर एक चींटी चल रही है और एक बच्चा बैठा है। दोनों का जीवन खतरे में है तो बताइये कि आपका हृदय किसको बचाने के लिये करेगा? यदि आप बच्चे को बचाते हैं तो चींटी मरती है और यदि चींटी को बचाते हैं तो बच्चा मरता है। तो किसको बचायेंगे? एक तो मरेगा ही। आपका हृदय स्वयं कहेगा कि बच्चे को बचाइये। बस आज का युवक यही तर्क तो करता है कि मनुष्य चींटी को बचाने के लिये तो प्रयत्नशील है पर बच्चे की उसे परवाह ही नहीं।

बचाना तो दोनों को ही चाहिये पर यदि एक मरता है तो बच्चे को बचाना है। आपका हृदय स्वयं कह देगा बस धर्म का केन्द्र कहां पर है? हृदय ही केन्द्र है, हृदय से खोज करें। आज युवक हृदय को पढ़ना चाहता है उस बात को परख लेना चाहता है। यदि उसी ढंग से हम इस बात को उसके सामने रक्खेंगे तो एक धर्म का रूप बनेगा और वही नया रूप होगा। नया महल बनेगा जिसमें नये फूल खिलेंगे और नयी सुगंध होगी और नया संसार होगा जिसके अन्दर आनन्द ही आनन्द होगा।

दुखियों की सेवा ही प्रभु की पूजा है

जीवन की मधुर पगडण्डियों पर चलते हुए एक साधक के वहुत से व्यक्ति निन्दक वन गये। वे उसको वुरा भला ही नहीं कहते थे परन्तु उसके साथ दुर्व्यवहार भी करते थे फिर भी वह वड़ा आनन्दित था। एक व्यक्ति ने उस साधक से पूछा कि लोग आपकी निन्दा करते हैं, आपके साथ दुर्व्यवहार करते हैं फिर भी आप प्रसन्न रहते हैं, क्या वात है? उस साधक ने उत्तर दिया कि मैं भी यह सव देख रहा हूँ। परन्तु मैं इन चर्म चक्षुओं से नहीं देख रहा वल्कि मन की आँखों से देख रहा हूँ। जव मैं आकाश की ओर देखता हूँ तो इस धरती का जीवन मुझे खिन्न नजर आता है। जव मैं अपनी ओर देखता हूँ तो मुझे शान्ति दिखायी देती है और जव मैं अपने चारों ओर देखता हूँ तो मुझे सभी में परमात्मा के दर्शन होते हैं परन्तु जव मैं अपने पीछे की ओर देखता हूँ तो मुझे सारी दुनिया वासना और कषाय की अग्नि में झुलसी हुई दिखायी पड़ती है तो मेरे हृदय में दया उमड़ती है और मेरा हृदय चाहता है कि मैं उन प्राणियों को उस आग से निकाल वाहर करूँ।

उस व्यक्ति ने पूछा कि वे आँखें कौनसी हैं? साधक ने उत्तर दिया—वे आँखें आपके पास भी हैं। तुम आध्यात्मिक आँखों का प्रयोग नहीं कर रहे। इस हृदय के चक्षुओं से देखो। ऊपर की आँख से तो केवल चर्म का शरीर ही दिखायी देता है। हृदय के नेत्रों से देखने पर प्रभु का रूप दिखायी देता है। कौन से चक्षु हैं जिनके द्वारा आप पुत्र पिता का भेद करते हैं? यह हृदय के चक्षुओं से ही सम्भव है अन्यथा वाहरी चक्षुओं से देखने पर तो यह मनुष्य ही दिखायी देता है। इसी प्रकार नोट एक कागज मात्र है पर हृदय के चक्षुओं से यह कागज और रुपये का भेद पता चल जाता है। इसी प्रकार जिसने

अपने हृदय के अन्दर परमात्मा के दर्शन कर लिये वही दूसरे के अन्दर भी परमात्मा के दर्शन करता है और ज्यों-ज्यों वह इस मार्ग पर चलता जाता है उसे दूसरों की वेदना का आभास होता जाता है।

पीड़ा दो प्रकार की होती है एक मानसिक या आध्यात्मिक और दूसरी शारीरिक। आध्यात्मिक जन शारीरिक पीड़ा को महत्व नहीं देते। वे आध्यात्मिक पीड़ा या मानसिक अशान्ति को महत्व देते हैं। सामान्य-जन शारीरिक पीड़ा को अधिक महत्व देते हैं। यदि आपके मन में शान्ति है तो आपको शारीरिक पीड़ा विचलित नहीं कर सकेगी। यदि मन में अशान्ति है तो शरीर से निरोगी होते हुए भी वह अपने आपको पीड़ित अनुभव करता है। इसलिये पहले मन में शान्ति लाने का प्रयत्न करो। शरीर की शान्ति भी आवश्यक है पर उससे अधिक आवश्यक है मन की शान्ति। इस मन की शान्ति का नाम ही धर्म है।

मन्दिरों में भगवान की प्रतिमाएं स्थापित की जाती हैं। उन प्रतिमाओं की हम पूजा करते हैं। परमात्मा की पूजा कोई मन्दिर में नहीं होती। मन्दिर में जाकर आपका पूजा करना सार्थक हो जाये यदि आप उसका सही रूप जान लें। भगवान की पूजा भी एक विज्ञान है। जो इसको नहीं समझता उसके लिए तो पूजा केवल पत्थर की पूजा तक ही सीमित है। मन्दिर भी शिक्षा देते हैं। लौकिक शिक्षा शाब्दिक होती है परन्तु मन्दिर की शिक्षा आध्यात्मिक है। वह हृदय को शान्त बनाने की, सुखी बनाने की शिक्षा देते हैं। केवल हाथ जोड़ना ही भगवान की पूजा नहीं है। आपने तो हमेशा भगवान को जड़ के रूप में, पत्थर के रूप में देखा है। यदि आप उसे चेतन के रूप में देखते तो देखते कि वह मुक्त कण्ठ से हमें शान्ति दे रहा है।

जिस प्रकार से भगवान की मूर्ति शान्त है, स्थिर है, नेत्र नासा पर टिके हुए हैं उसी ढंग से हम भी एक बार कुछ क्षण बैठकर अपने हृदय के संगीत को सुनें। हमने आज तक इस संगीत को सुनने का और उस आनन्द को उठाने का प्रयत्न ही नहीं किया। परमात्मा की आवाज तभी सुनाई देगी जब आप मौन रूप होकर, अपनी चंचलता समाप्त कर एकाग्र चित्त होकर बैठें।

परमात्मा कोई इन्द्रियों से दर्शनीय वस्तु नहीं है। परमात्मा तो वन जाने वाली चीज है। परमात्मा वना जायेगा देखा नहीं जायेगा। भगवान की मूर्ति आपका आह्वान कर रही है कि आप भी परमात्मा वन सकते हैं। आपको कुछ करना नहीं है केवल शान्त होकर वैठना है। यदि आपके हृदय के चक्षु खुल गये तो आपको आनन्द प्राप्त होगा। आपको भी प्रत्येक जीव जन्तु में आनन्द ही आनन्द दिखायी देगा। जव आनन्दमय होने का भाव मन में आता है तो करुणा उत्पन्न होती है। करुणा, दया, प्रेम स्वयमेव हो जाती है, की नहीं जाती। इसी प्रकार दुखी को देखकर सेवा का भाव भी स्वयमेव पैदा होता है।

एक हिरणी अपने वच्चे की रक्षा के लिए शेर का भी मुकावला करती है यह जानते हुए भी कि वह रक्षा नहीं कर सकती। उसका कारण यही है कि उसके हृदय में अपने वच्चे के प्रति करुणा उत्पन्न होती है उसी के वशीभूत होकर वह शेर तक का मुकावला करने को उद्यत हो जाती है। हिरणी यह सव स्वाभाविक रूप से करती है। इसी प्रकार सेवा की नहीं जाती वह स्वाभाविक रूप से हो जाती है। जहां सेवा की जाती है वहीं अहंकार आ जाता है।

जव हममें सेवा के भाव नहीं होते तो हम वहाने खोजते हैं। कभी-कभी सेवा का भाव यदि उत्पन्न भी होता है तो माता-पिता की सेवा के लिये, यहां तक कि वच्चे की सेवा और उसके पोषण के लिये नौकर रख देते हैं। माँ वाप की सेवा और यहां तक कि भगवान की पूजा के लिये भी नौकर रख दिया जाता है। नौकर से कराने में सेवा नहीं होती। वह तो एक क्रिया मात्र है उसमें सेवा का भाव नहीं है। आज जीवन से मानवता समाप्त होती जा रही है। जव सारे कार्य नौकर कर लेगा तो हम काहे के लिये हैं। कल वच्चे को प्यार करने के लिये भी नौकर रख लेंगे। ऐसे तो मनुष्य के जीवन का रस ही समाप्त हो जायेगा। भोजन वनाना, कपड़े धोना भी क्रिया है परन्तु जव ये काम प्रेमपूर्वक या सेवा भाव से किया जाता है तो उसमें मानवता टपकती है। नौकर से सेवा कराने में आनन्द नहीं आयेगा। स्वयं सेवा करने में आनन्द की प्राप्ति होगी। जो स्वयं दुखी की,

रोगी की सेवा करता है तो ऐसी सेवा करने वाले को आनन्द की प्राप्ति होती है। जब किसी दुखी या कष्टी की सेवा भाव से की जाती है तो उसका आधा कष्ट तो आपकी सेवा को देखकर ही दूर हो जाता है।

आज देश में हजारों दुखी हैं, रोगी हैं और नंगे भूखे हैं। हम तर्क करते हैं अरे यह तो चलता रहेगा। पर तर्क वाहर की विडम्वना से उत्पन्न होता है। गरीव को, वीमार को, कोढ़ी को हम वाहरी नेत्रों से देखते हैं इसलिये उनके प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होता है परन्तु जव हृदय से उन्हें देखकर उनके दु:ख दूर करने की इच्छा पैदा होती है तो उनमें हमें परमात्मा के दर्शन होते हैं। कीचड़ में यदि हीरा पड़ा हो तो जिस प्रकार हम उसे निकाल लेते हैं उस समय कीचड़ का कोई खयाल मन में नहीं आता, इसी प्रकार इस संसार में जो गरीवों, निर्धनों तथा असहायों में परमात्मा के दर्शन करता है वही सच्ची सेवा करता है यही मानवता है, यही प्रभु की सच्ची सेवा है।

जो व्यक्ति ऐसा करता है उसे दुखियों की सेवा करने में शर्म नहीं आती। वह तो सवकी सेवा करने के लिये उत्सुक रहता है ऐसा भाव प्रगट हो जाने पर ही प्रभु की सच्ची पूजा कहलाती है। यदि मन्दिर में पूजा के लिये जाने वाले व्यक्ति की आँखों से दम्भ या मान टपकता हो तो यह पूजा करना एक ढोंग मात्र है। यदि आप मन्दिर जा रहे हैं मार्ग में कोई असहाय भूखा तड़प रहा है तो आप उसकी पहले सेवा करें यही भगवान की सच्ची पूजा है।

सेवा कर्तव्य भी नहीं है। माता अपने वच्चे को हृदय से लगाती है कर्तव्य समझकर नहीं। वेटा माँ वाप की सेवा करता है, पत्नी पति की सेवा करती है, मित्र मित्र के साथ मित्रता निभाता है ये सव हृदय में उत्पन्न होने वाले सद्भाव हैं। उसी प्रकार सभी को देखकर जिसके हृदय में सेवा भाव उत्पन्न होते हों वही भगवान की सच्ची पूजा है।

आज कल तो सेवा करने में व्यक्ति शर्म अथवा लज्जा का अनुभव करता है। वेटा माँ वाप की, मित्र मित्र की, नौकर मालिक

की, पत्नी पति की सेवा करने में हीनता का अनुभव करती है। जब मनुष्य के अन्दर मानवता जगती है मनुष्य मनुष्य के निकट आता है तो सेवा में शर्म नहीं आती। सेवा सद्भाव है। यदि जन जन के अन्दर ऐसा भाव उत्पन्न हो जाये तो पृथ्वी पर कोई दुखी, दरिद्री, कोढ़ी नहीं दिखायी देगा।

एक बार गांधी जी कहीं जा रहे थे। मार्ग में कोढ़ी बस्ती पड़ती थी। कार्यकर्ताओं ने मार्ग बदलना चाहा परन्तु गांधी जी ने कहा कि नहीं कोढ़ियों की बस्ती के मार्ग से ही जाना है। जब कोढ़ियों ने गांधी जी को देखा तो उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। गांधी जी ने इस प्रसन्नता का कारण पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि आपको देखकर हमारी आत्मा को शान्ति मिल रही है। आपके दर्शन मात्र से हमें आनन्द मिल रहा है। गांधी जी ने कोढ़ियों को गले से लगा लिया। ऐसा करने से उन्हें जो आत्मिक आनन्द प्राप्त हुआ वह शब्दों द्वारा नहीं बताया जा सकता।

हमारे देश में अनेक विदेशी मिशनरी हैं। उन्हें हृदय में प्रेम और सेवा भाव यही दो बातों की शिक्षा दी जाती है। इसी कारण उनमें इतना संगठन पाया जाता है। उनके अस्पतालों में रोगी शीघ्र रोग-मुक्त हो जाते हैं। परन्तु हमारे देश के सरकारी अस्पतालों में सेवा भावना का एकदम अभाव है। इसीलिये रोगी भी शीघ्र रोगमुक्त नहीं हो पाते।

यदि घर में, समाज में और राष्ट्र में सुख व शान्ति चाहते हो तो सेवाभावी बनो। वात्सल्य, करुणा और दया से यदि मानव की सेवा की, इस चेतन की पूजा की तो मन्दिर की पूजा भी सार्थक हो जायेगी।

जीवन पथ को अभिराम बनालो

एक वाग था, जिसमें अनेकों पुष्प खिल रहे थे। एक पुष्प के पास ही एक वड़ा सा पत्थर भी पड़ा हुआ था। वह पुष्प एक दिन उस पत्थर से कहने लगा कि अरे तेरा भी क्या जीवन है। तुझे कोई नहीं पूछता। देख मेरा कितना सौन्दर्य है सभी मुझसे प्रेम करते हैं। कांटा भी मेरे से नीचे रहता है। ऐसा अहंकार उस पुष्प ने किया। पत्थर वेचारा सुनता रहा। वह कर भी क्या सकता था? एक दिन उस पत्थर के भी भाग्य जागे। एक शिल्पकार उस वाग में आ पहुँचा। उसे वह पत्थर वहुत सुन्दर लगा। वह उस पत्थर को अपने घर ले आया और उसे घड़कर उसमें से भगवान की वहुत ही मनोज्ञ मूर्ति उस शिल्पकार ने वना दी। वह मूर्ति उसी वाग के निकट एक वहुत ही सुन्दर मन्दिर में प्रतिष्ठापित की गयी। भक्त लोगों की भीड़ भगवान के दर्शनों के लिये उमड़ पड़ी और एक दिन ऐसा आया कि एक भक्त उसी पुष्प को तोड़कर भगवान के चरणों में चढ़ाने के लिये ले आया। वह पुष्प भी अपने भाग्य को सराह रहा था कि आज भगवान के चरणों का सानिध्य प्राप्त होगा। उसे क्या पता था कि यह मूर्ति जिस पत्थर से वनायी गयी है यह वही पत्थर है जिसके समक्ष एक दिन उसने वड़ा अहंकार प्रदर्शित किया था। वह पुष्प भगवान के चरणों में चढ़ा दिया गया। भगवान की मूर्ति के मुख पर जो मुस्कराहट थी वह मानो उस पुष्प से कह रही थी कि कहां गया तेरा अहंकार? देख, मैं वही पत्थर हूँ जिसको कोई पूछता नहीं था। वस आज मानव की यही हालत है, वह व्यर्थ में अहंकार करता है, और जितना-जितना वह अहंकार करता है उतना-उतना वह अपने लक्ष्य से दूर होता जाता है। इस अहंकार को छोड़ देना चाहिये और प्राणिमात्र के प्रति सद्भाव रखना चाहिये।

यह 'मैं' क्या है? आप कुछ विचारते हैं तो उसका वेदन आपके मस्तिष्क में होता है, पर यदि आपको दुःख होता है तो उसका वेदन

आपके हृदय में होता है, और यदि सुख होता है तो आपका हृदय प्रसन्नता से खिल उठता है। विचारों से आपका सिर भारी होता है। दुःख से हृदय में जलन होती है। वेदन हृदय में होता है। अतः हमें अपने हृदय के गुणों का विकास करना चाहिये। हृदय का मूल क्या है? प्रेम या प्यार। कौनसा व्यक्ति ऐसा है कि जो पैदा होते ही प्यार न चाहता हो। क्या वह प्यार के लिये तड़प नहीं रहा है, उसकी सारी शक्तियां उस प्रेम या प्यार को प्राप्त करने के लिये लगी हुई हैं। जब तक वह उसे प्राप्त नहीं कर लेता, वह उसके लिये प्रयास करता रहता है।

जब व्यक्ति अकेला होता है तो उसका प्रेम स्वार्थ के लिये होता है। वह सिर्फ अपनी ही आवश्यकतायें पूरी करना चाहता है। जब व्यक्ति का विवाह हो जाता है तो उसका यही स्वार्थ पत्नी और बच्चों में फैल जाता है। वह समझता है कि बच्चों ने खा लिया तो मैंने खा लिया। वह कमाता भी है तो अपने परिवार के लिये। अब उसका प्रेम अपने तक न रहकर कुछ व्यापक हो जाता है। लेकिन अभी भी वह स्वार्थ ही कहलायेगा। जब उस व्यक्ति का प्रेम समाज में फैल जाता है, तो उसके मन में यह विचार उठा करते हैं कि भले ही मैं भूखा रह लूं पर समाज में कोई दुःखी न रहे। इससे और आगे बढ़ने पर जब उसका स्वार्थ सारे राष्ट्र में फैल जाता है तो उसे हर कार्य में अपने देश और देशवासियों की चिन्ता रहने लगती है। वह हर व्यक्ति की सहायता करने में एक आनन्द का अनुभव करता है। इससे भी आगे बढ़ने पर जो सारे विश्व में अपना स्वार्थ फैला देता है तो वही विश्व प्रेम का रूप धारण कर लेता है। उसे विश्व के हर व्यक्ति के प्रति स्नेह होता है। इससे भी आगे जो प्राणिमात्र से प्रेम करता है तो वह आत्मा को प्यार करता है और यही अहिंसा का सर्वोपरि रूप है। यही प्रभु की सच्ची उपासना है।

इसी को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जब व्यक्ति केवल अपने ही जीवन के प्रति प्रेम करता है तो वह कहलाता है स्वार्थ, जब वह परिवार के प्रति प्रेम करता है तो वह स्नेह कहलाता है। जब वह दुखियों के प्रति प्रेम करता है तो वह करुणा कहलाती है, और जब

वह बड़ों के प्रति प्रेम करता है तो वह श्रद्धा कहलाती है, जब व्यक्ति देशवासियों के प्रति प्रेम रखता है तो वह राष्ट्रभक्ति कहलाती है, और जब वह विश्व के प्रति प्रेम रखता है तो वह विश्व प्रेम कहलाता है। जब वह मित्रों के प्रति प्रेम करता है तो वह वात्सल्य कहलाता है और जब वह जीवमात्र के प्रति प्रेम करता है तो वह आत्मप्रेम या अहिंसा कहा जाता है, जब परमात्मा से प्रेम करता है तो वह भक्ति कहलाती है और जब वह आत्मा के प्रति प्रेम करता है तो वह ध्यान कहलाता है और जब वह परिपूर्णता को प्राप्त कर लेता है तो वही आनन्द है।

गृहस्थी से हटकर संन्यास की ओर जाने वाला व्यक्ति वही है जो अपने जीवन के स्वार्थ को घर के दायरे से निकालकर समस्त विश्व में फैला दे। हमने अपने जीवन से यह बात निकाल दी है, इसीलिये जीवन में अन्धकार छा गया है। जीवन से सारा रस समाप्त हो गया है। यही कारण है कि आज आत्महत्या की घटनायें अधिक सुनने में आती हैं क्योंकि जब मनुष्य के जीवन से रस समाप्त हो जाता है उसे कहीं भी प्रेम नहीं मिलता तो वह अपना जीना व्यर्थ समझता है और वह आत्महत्या करने को उतारु हो जाता है।

एक बार भगवान महावीर के समवशरण में एक भक्त ने पूछा कि भगवन् यदि एक ओर मैं आपकी पूजा कर रहा हूँ और दूसरी ओर सड़क पर कोई दुःख या कष्ट में व्यक्ति पड़ा हुआ हो तो मेरा क्या कर्तव्य है? भगवान ने कहा—मेरी वास्तविक पूजा यही है कि मेरे बताये हुए आदर्शों पर चला जाये। दीन दुखियों के प्रति करुणा भाव रखते हुये प्राणिमात्र की सेवा की जाये। जो किसी भी आत्मा में भेद न करे और सभी की आत्मा को समान रूप से देखे। जो शरीर को देख रहा है और उस पीड़ित शरीर को छोड़कर भगवान की पूजा में संलग्न है, वह वास्तव में भगवान की पूजा नहीं कर रहा है। वास्तव में दुखियों की सेवा ही प्रभु की सच्ची पूजा है। जो दुखियों की सेवा करता है वही परमात्मा से प्यार करता है।

सब कहते तो यही हैं कि वे सबसे प्रेम करते हैं पर वास्तव में वे ऐसा नहीं कर रहे हैं। मनुष्य प्रेम नहीं कर रहा बल्कि प्रेम करने

का उपक्रम कर रहा है। हम तो प्रेम नहीं कर रहे हैं वल्कि वदले में किसी आकांक्षा से प्रेम कर रहे हैं। यह प्रेम नहीं। प्रेम निःस्वार्थ होता है। प्रेम करने वाला व्यक्ति निःस्वार्थ भाव से सेवा किया करता है। यहां प्रेम से मेरा तात्पर्य सम्वन्धात्मक नहीं है वल्कि सद्भाव से है। प्रेम या सद्भाव किया नहीं जाता वह हो जाता है।

प्रेम करने वाले हृदय में अहंकार नहीं होता। वह यह नहीं कहता कि मैं ऐसा कर रहा हूं क्योंकि यह 'मैं' एक अहंकार है। यह ऐसा विष हैं जो अमृत को भी विषमय वना देता है। सारे करे कराये पर पानी फेर देता है। आज मनुष्य की हर क्रिया में 'मैं' गूंज रही है। यही 'मैं' तो किसी भी भाव को वास्तव में प्रगट नहीं करने देता है।

वच्चा जव पैदा होता है तो वहां कोई 'मैं' नहीं होती। हम उसे पुकारने के लिये एक नाम दे देते हैं वाहर के जगत में काम चलाने के लिये पर अंतरंग के जगत में उसके 'मैं' होती है। वह 'मैं' हमारे हृदय में है। जव तक वह 'मैं' घुसी हुई है तव तक हृदय में प्रेम प्रकट नहीं हो सकता। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं उसी प्रकार हृदय में प्रेम और 'मैं' एक साथ नहीं रह सकते।

इसी 'मैं' और 'तू' को हमें हटा देना है। जहां न मैं है और न तू है वही श्रेष्ठ अवस्था है। वहीं वास्तविक आनन्द है। प्रेम देना जानता हैं वह लेना नहीं जानता। जैसा हमारे हृदय में भाव होता है वैसा ही वाहरी जगत में हमें प्राप्त हुआ करता है। यदि हमारे हृदय में घृणा भरी पड़ी है तो हमें भी दूसरों से घृणा मिलेगी। जव आपके हृदय के अन्दर सुख आनन्द होगा तो आपको दूसरों से भी आनन्द की प्राप्ति होगी। जव तक आकांक्षा है कि मैं प्रेम कर रहा हूं तो मुझे प्रेम मिलना चाहिये तो आप प्रेम नहीं कर रहे हैं आप तो उसका व्यापार कर रहे हैं। हृदय को वदलने से, उसकी साधना करने से ही वह देख सकता है कि दूसरे का हृदय भी वदल रहा है पर आकांक्षा करने से वह कभी अहिंसक नहीं वन सकता।

जिस प्रकार धन प्राप्ति की आकांक्षा भी अहंकार है उसी प्रकार परमात्मा की प्राप्ति की आकांक्षा भी एक अहंकार है। जव तक आप

किसी वस्तु की इच्छा करते रहते है वह आपसे दूर होती जाती है। जैसे जव तक आप धन प्राप्ति की लालसा करते हैं तो लक्ष्मी दूर दूर भागती है। जो धन की लालसा नहीं करते, उसका दोनों हाथों से दान करते हैं तो वह पीछे-पीछे आती है। वास्तव में जैसा हृदय में भाव होता है वैसा ही वाहर में दिखाई देता है। हम कहते हैं कि दुनिया खराव है। पर वास्तव में दुनिया खराव नहीं हमारा मन ही खराव है। धर्म, समाज और विश्व का केन्द्र हमारा हृदय है। हम इस हृदय को टटोलते नहीं। यहां तो अहंकार भरा पड़ा है। हम शान्ति की आकांक्षा तो करते हैं पर वास्तव में पुरुषार्थ तो किया ही नहीं, आनन्द ही परमात्मा है। उस आनन्द को खोजिए अपने हृदय का विकास कीजिये।

इस अहंकार को निकालने से ही हमें आनन्द की प्राप्ति होगी और यही आनन्द ही साधना है, यही जीवन है, आनन्द ही परमात्मा है, और जैसा कि वेदान्तियों ने भी कहा कि आनन्द ही मोक्ष है, आनन्द ही धर्म है। उस आनन्द को पाइये और स्वयं परमात्मा वन जाइये।

जगत् की नश्वरता विचारो

जिसके हृदय में आत्मोत्थ आनन्द का समुद्र छलछला रहा है, जो स्वात्मानुभव से उत्पन्न परमसुख को प्राप्त करके कृतकृत्य हुआ जा रहा है, जो इस ब्रह्मानन्द के दिव्य स्रोत में स्नान करके पावन हो गया है, जिसको परम प्रभु की पावन शरण प्राप्त हुई है, जिसको हृदयस्थ परमात्मा के चरण स्पर्श का सौभाग्य मिला है वह क्षण को भी उसका विरह सहन नहीं कर सकता है। वह जगत् की बड़ी से बड़ी बाधा को तैयार है परन्तु प्रभु का विरह उसे असह्य है। वह एकदम विकल हो जाता है, छटपटा उठता है उस आनन्द के अभाव में। परन्तु अनादि के संस्कार व अज्ञान से उत्थित सांसारिक बाधायें उसको विचलित करने का प्रयत्न करती हैं। परन्तु हृदय पुनः उसी अमृत का पान करना चाहता है। ऐसी द्वन्दात्मक स्थिति में वह सिहर उठता है। उस समय विशेष विचारणाओं रूप भावनायें ही उसकी मातावत् रक्षा करती है। कहा भी है—

मुनि सकलव्रती बड़भागी भवभोगन तैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई चिन्त्यो अनुप्रेक्षा भाई ॥१॥
इन चिन्तत सम सुख जागे जिमि ज्वलन पवन के लागैं।
जबही जिय आतम जानै, तबही जिय शिवसुख ठानै ॥२॥

भावना ही संसार की व भावना ही मोक्ष की कारण है। भाव से सुख तथा भाव से ही दुःख है। एक वस्तु को अपना मान लें भाव में तो तत्सम्बन्धी दुःख व सुख होने लगता है, उसी को अपना न मानें तो दुःख-सुख से अस्पर्श रह जाती है। एक ढंग से विचारने पर वही वस्तु अच्छी दीखती है तथा दूसरे प्रकार से वही बुरी। एक प्रकार से सुखदायी तथा दूसरे प्रकार से दुखदायी। आज जिस ढंग से हम जगत को देखते हैं तथा विचारते हैं उस ढंग से हमको

उससे सम्बन्धित दु:ख व सुख भी होता है, परन्तु यदि विचारने का ढंग बदल दें तो तत्सम्बन्धी दु:ख व सुख से बच सकते हैं। अत: साधक की अन्तरंग शान्ति की रक्षा तथा संस्कारों से रक्षा एवं उन पर विजय प्राप्त करने में ये भावनायें अत्यन्त सहकारी होती हैं। जीवन में अनेकों प्रकार की विकट स्थितियां आती हैं उस समय विचारने योग्य कल्पनायें भी अनेक प्रकार की हो सकती हैं। परन्तु यहां मुख्यत: १२ प्रकार की बताई गई हैं जिसमें शेष सर्व गर्भित हो जाती हैं। आज उनमें से प्रथम प्रकार की भावना का प्रसंग है जिसको अपनाकर एक साधारण व्यक्ति के भी दु:ख भाग जाते हैं। अत: यह मातावत् रक्षा करने वाली है।

जिसने हृदय में स्थित परमप्रभु से प्रकाश प्राप्त किया है, उस दिव्यालोक के अन्दर उसे जगत् का असली रूप प्रगट प्रत्यक्ष हो गया है। उस दिव्य दृष्टि से जिसको जगत् की माया के नीचे अव्यक्त सत् तत्व स्पष्ट प्रतिभासित हुआ है अब वह माया के भुलावे में नहीं आता। अब माया जनित नाना विचित्र रूप अपना नाटक दिखाकर उसके मन को शोकपूर्ण नहीं बनाते। जो माया जगत् के समस्त जीवों को अपने स्वांग दिखाकर जगत् में पटक-पटक कर मारती है जैसे धोबी वस्त्र को शिला पर पछाड़ा करता है, अब वह माया उस साधक के वश में हो जाती है। अब अपना स्वांग उसको नहीं दिखाती। जिस प्रकार एक ठग तब तक ठगता है जब तक वह मुसाफिरों द्वारा पहिचान नहीं लिया जाता। इसी प्रकार अपना मित्र व सम्बन्धी भी हँसी में तब तक डराया करता है जब तक वह जान नहीं लिया जाता। बन्दर तब तक घुड़की दिखाता है जब तक उसकी घुड़की से भय खाया जाता है। अन्धेरे में रज्जु से तब ही तक डर लगता है जब तक उसको सर्प समझा जाता है। इसी प्रकार एक अभिनायक द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत किये जाने वाले विभिन्न अभिनयों में तब ही तक हर्ष व शोक होता है जब तक उसके असली रूप को जान नहीं लिया जाता है। इसी प्रकार जो माया की बहुरूपता को पहिचान जाता है, उसको माया का

नग्न रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। तब वह मायोत्तीर्ण हो जाता है। तब वह समझ लेता है कि जगत् का यह सब प्रपंच असत् है। यह सब केले के स्तम्बवत् निस्सार है। तब मानों माया अपना सर्व प्रपंच समेट लेती है। तब वह संसार से तर जाता है। वह दुखों के उस पार दिव्य लोक में पहुँच जाता है।

यह समस्त संसार क्षणभंगुर है। वह जगत् क्षण-क्षण में बदल रहा है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो बदल न रहा हो। क्षण-क्षण में नाश हो रहा है। कभी हर्ष और कभी शोक तथा कभी शोक तो कभी हर्ष चक्र चलता रहता है। संसार में यदि दुःख व सुख की तुलना करें तो सुख की अपेक्षा दुःख अनन्त गुणा होगा। परन्तु अब जहां हर्ष है तो वहां पश्चात दुःख होगा तथा जहां अब दुःख है तो आगे सुख आने वाला है। जो आज मित्र है वह कल शत्रु बन जायेगा। जो कल शत्रु था वह आज मित्र बन जाता है। आज जो परमाणु शरीर के रूप में परिणमे हुए हैं वही अनेक बार शत्रु व शस्त्र बनकर हमारे शरीर का विदारण कर चुके हैं। जो पहले हमारा शत्रु था वही कल पुत्र बनकर उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् जगत् में कोई भी वस्तु एक रूप से नित्य नहीं रहती। देह हर क्षण बराबर जीर्ण हो रही है। बालक से युवा व युवा के पश्चात् वृद्धावस्था तथा उसके पश्चात् पुनः बालक व युवावस्था आती और जाती रहती है। यौवन कमलनी के पत्तों पर पड़ी ओस की बूंदवत् क्षण में लुढ़क जाता है। किस पर गौरव करता है? सवेरे तो तख्त पर बैठा राज्य कर रहा था सन्ध्या को उसकी चिता का धुआं जलता देखा जाता है। जिस घर में मंगल गान सुनाई देता था उसी में रुदन सुना जाता है। जिसको कल तिलक होने वाला था ऐसे श्री राम को जंगल का वास होता किसने जाना था? जिसके बृहस्पति के समान मन्त्री थे, जिसके अतुल वैभव था, जिसके बहुत बड़ी सेना थी, जिसका विस्तृत साम्राज्य था, जिसकी नगरी स्वर्ण की थी ऐसा रावण आज कहां गया? वह भी यमराज का ग्रास बन गया। इन्द्र का ऐश्वर्य व स्वर्ग का राज्य भी छोड़कर मृत्युलोक में

आना पड़ता है। देवों की लम्बी आयु भी एक दिन क्षीण हो जाती है। सेठों की सम्पत्ति क्षण भर में चोरों द्वारा हरण कर ली जाती है। लाखों के घर खाक में मिलते देखे जाते हैं। कुटुम्ब के कुटुम्ब एक दम विनष्ट हो जाते हैं। रूप व लावण्य रोग व जरा के द्वारा अपहरण कर लिया जाता है। वह भी मेघपटल के सदृश क्षण में विलय हो जाता है। यहां कुछ भी तो स्थिर नहीं है। जहां पहले महल थे वहां खण्डहर पड़े हैं। जहां जंगल या शमशान था वहां वस्तियाँ हैं। जो महल व बंगले तथा किले बड़े चाव से बनाये गये थे उनको आज कोई देखने वाला नहीं है। जिन्होंने उनको वनवाया था वे सब कहां चले गये ? बुढ़ापे में सर्व मित्र न मालूम कहां चले जाते हैं ? जो जरा-जरा सी वात पर बहस करते थे, जिन्होंने तनिक सी पृथ्वी व धन के लिये प्राण खपा दिये आज वे वस्तुयें पड़ी सड़ रही हैं। आज उसको कोई उठाने वाला नहीं है, भोगने वाला नहीं है। जिस औरंगजेब ने गद्दी पर बैठकर इतना अत्याचार किया परन्तु आज उसका नाम निशान भी नहीं। अकबर जैसे वादशाह के महल सूने हो गये। यही संसार का रूप है। यहां सब कुछ अनित्य है।

मनुष्य थोड़े से जीवन पर नित्य रंग रचता है। सन्तान के लिए मरता खपता है। यह समझकर कि यह मेरी सेवा करेगा। इससे मेरा नाम चलेगा। परन्तु क्या पता कि वह पुत्र ही पहले चल वसे। अथवा तू आज ही चल दे। एक श्वांस का भी भरोसा नहीं है। आज तो विशेष रूप से जीवन हर क्षण मृत्यु में झूल रहा है। तू मर जायेगा पीछे कौन देखेगा कि तेरा नाम चल रहा है कि नहीं। चक्रवर्ती जब छः खण्ड की विजय करके वृषभगिरि पर वज्र से अपना नाम लिखता है तो देखता है कि सारा पर्वत नाम से भरा हुआ है। तब वह उसमें से एक नाम मिटाकर अपना नाम लिख देता है। तात्पर्य कि संसार में अनन्त चक्रवती हो गये, वे सब राज्य के लिये लड़ते-लड़ते मर गये कोई भी अमर नहीं हुआ। माता यूं समझती है कि मेरा पुत्र वड़ा हो गया परन्तु वह उसकी अज्ञानता है क्योंकि वास्तव में तो पुत्र वड़ा नहीं अपितु छोटा हो गया। उसकी

आयु कम हो गई। जन्म से ही उसकी आयु कम होनी शुरू हो गई। बराबर काल निकट आता जा रहा है। क्या मृत्यु का क्षण टाला जा सकता है? भले जगत् के कार्य रुक जायें परन्तु वह क्षण नहीं टल सकता। श्री लाल बहादुर शास्त्री ताशकंद में थे। सर्व साधन उपलब्ध थे। बड़े-बड़े डाक्टर उपस्थित थे। परन्तु क्या कोई बचा सकता है। जो जाने वाला है वह जायेगा ही रुक नहीं सकता। अतः किसी की मृत्यु पर शोक व्यर्थ है, अन्धकार में नृत्य करने वत् है।

हे आत्मन्! सम्भल, समझ। दूसरे की मृत्यु को देखकर रोने की बजाय तू अपनी मृत्यु को देख ले। तू अभी काल का ग्रास बन जाने वाला है। काल बराबर अपना मुँह फाड़े तेरी ओर चला आ रहा है। काल की अत्यन्त साम्य दृष्टि है। उससे भय खाने की बात नहीं। वह विवेक नहीं करता कि कौन बाल है कौन वृद्ध, कौन धनिक है कौन निर्धन। वह तो साम्यभाव से जो भी उसके हाथ में आ जाये उसको ग्रहण कर लेता है। जिस प्रकार से कि सभी पुत्रों पर समान प्रेम करने वाली माता पतीली में करछी द्वारा सब्जी निकालकर पुत्रों को देती है। तब वह यह नहीं विचार करती कि कौनसी फांक पहले निकालूं। जो भी करछी में आ जाये वही परोस देती है। अतः देख मृत्यु तेरी ओर चली आ रही है। दूसरे की मृत्यु पर रोने की बजाये अपनी मृत्यु को देख ले। ये धन वगैरा सब यहीं छूट जायेंगे। धर्म साथ जायेगा, कुछ तैयारी कर ले। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है शरीर तो क्षीण होता है परन्तु आशा नहीं छीजती वह अधिक-अधिक बढ़ती जाती है। भैया! लोक में तो किसी के घर में आग लगती देखकर अपने घर की रक्षा करने के लिये जाते हैं परन्तु यहां दूसरे की मृत्यु देखकर अपनी रक्षा क्यों नहीं करता। अकबर ने पूछा कि यदि सबकी दाढ़ी में आग लग जाये तो तुम किसकी बुझाओगे। तो सब कहने लगे जनाब! आपकी। परन्तु बीरबल ने कहा कि साहब! मेरा तो हाथ पहले अपनी पर ही जायेगा। अतः अपने घर की आग बुझाइये अर्थात् अपने परमार्थ की रक्षा कीजिये। मृत्यु की तरफ से बिल्ली को देखकर कबूतरवत् आंख मीच लेना बुद्धिमत्ता नहीं है, अपितु धर्म की परम शरण लेना ही योग्य है।

थोड़ा सा जीवन है क्यों धन व जायदाद पर झगड़ता है। शरीर जाकर लौटकर नहीं आयेगा। लोक में समुद्र की लहर भले लौट आये परन्तु वही देह फिर नहीं मिलता। काहे को चार दिन के लिए झूठ, कपट व चोरी करता है। महल व वंगले बनाता है। लोमश ऋषि अपने सर पर एक कुश की चटाई ओढ़े चले जा रहे थे। तब उनसे किसी ने पूछा कि आप यह चटाई सर पर क्यों ओढ़े हैं? तब उन्होंने उत्तर दिया कि मेरी छाती पर से एक पैसे जितने स्थान के बाल उड़ गए हैं। एक बाल सौ वर्ष में जाता है। किसी दिन सारे बाल अवश्य समाप्त हो जायेंगे उस दिन अवश्य मृत्यु होगी। तब कुटिया बनाकर क्या करूंगा। छाया व आसन के लिये यह चटाई पर्याप्त है। परन्तु हम नित्य नये रंग रचते हैं। अरे जिस लक्ष्मी के लिए पाप करता है वह बिजलीवत् चंचल है। यह अपनी चमक दिखाकर मनुष्य को मोहित करने आती है। क्यों व्यर्थ इसके लिए पचता है? यह संसार तो रैन बसेरा है। नाना देशों से पक्षी आते हैं और प्रातः होने पर आगे पीछे सब चले जाते हैं। हम सबको ही जाना है। कुटुम्ब के नाते व रिश्ते भी देह के हैं आत्मा के नहीं। ये रिश्ते यहीं जुड़ते हैं और यहीं समाप्त हो जाते हैं। आत्मा का किसी से कोई नाता नहीं है।

यह संसार ऋणानुबन्ध रूप है। सब जीव अपना-अपना ऋण चुकाने के लिए आते हैं। जिसको जो लेना होता है तथा जिसको जो देना होता है वही ले देकर अपना रास्ता मापता है। इसी विषयक एक कथा है। एक सेठ था उसके कोई सन्तान न थी। अपनी सम्पत्ति अपने मित्र के पास रखकर यात्रार्थ गया और वहीं मर गया। पीछे उनका मित्र प्रतीक्षा करता रहा परन्तु जब वह व्यापारी नहीं लौटा तब अपने सर पर से बोझ हटाने को उसने वह सम्पत्ति राजा के पास रख दी। समय पाकर वह भी मर गया। यह विषय यहीं छोड़ दीजिये। अब सेठ विद्वान ब्राह्मण के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने उसकी कुण्डली देखी और जान ली कि यह पुत्र अपना ऋण चुकाने को आया है। अतः उसने अपनी पत्नी से कहा कि उसको किसी के घर मत जाने देना तथा इसके लिए अथवा इसको कोई वस्तु देने आवे

तो मत लेना। पत्नी ने आज्ञा मान ली। एक समय जब पुत्र पढ़ लिख कर विद्वान बन गया तब उसका पिता ग्रामान्तर को गया तो अपनी पत्नी को वही आदेश पुनः दे गया। उसके पीछे ग्राम में एक पण्डित आया। राजा के दरबार में शास्त्रार्थ हुआ। राज दरबार के सभी विद्वानों को नवागन्तुक ने हरा दिया। राजा इससे चिन्तित हुआ तब उसने योग्य पण्डित के बारे में सोचा। उसे इसी ब्राह्मण की स्मृति हुई। परन्तु जब ब्राह्मण को न पाया तब पुत्र को ही बुला लिया। क्योंकि पुत्र की विद्वत्ता भी कोई कम न थी। ब्राह्मण पुत्र ने नवागन्तुक को अपने बुद्धिबल से हरा दिया। ऐसी स्थिति से राजा की प्रसन्नता व हर्ष का पारावार न था। उसने ब्राह्मण पुत्र को इनाम देना चाहा, रत्नों के थाल भरकर मंगवाये, परन्तु ब्राह्मण पुत्र ने लेने से इन्कार कर दिया तथा खाली हाथ घर लौट आया। परन्तु राजा उसको इनाम देना चाहता था उसने चार लड्डू प्रसाद के रूप में भेजे। माता ने बहुत अस्वीकार किया परन्तु अन्त में ग्रहण करने पड़े। उन लड्डुओं को उसने घर की कोठरी में जाकर रखा। ज्योंही पुत्र ने एक लड्डू उठाकर तोड़ा तो उसमें से अमूल्य रत्न निकले। उधर पुत्र ने चीख मारी और तुरन्त प्राण दे दिये। माता रोने व विलाप करने लगी। एक दम भीड़ इकट्ठी हो गई। माता पुत्र वियोग में पागल सी हो गई क्योंकि उस रहस्य को जानती न थी। वह अज्ञानी थी। इतनी देर में ब्राह्मण भी उधर से आ निकला। भीड़ को एकत्रित देखकर वह सब रहस्य समझ गया। परन्तु उसके चित्त में कोई शोक न हुआ, क्योंकि वह जानता था कि यह पुत्र अपना ऋण चुकाने आया है और ऋण चुकाकर अवश्य जायेगा। इसको यहां रहना नहीं। यह वही मित्र था जो राजा के द्वारा अपना धन व्यापारी को दिलाने आया था। अतः समस्त संसार ऋणानुबन्ध रूप है। जिस प्रकार एक रहट पर लगी डोलचियां क्रमानुसार ऊपर आती हैं अपना-अपना जल खाली करके फिर अधोमुखी हो जाती हैं अथवा जिस प्रकार रंगमंच पर अभिनायक अपना-अपना पार्ट अदा करके चले जाते हैं उसी प्रकार संसार में यह जीव अपना कर्म अदा करके चल बसता है। कोई भी यहां रहने वाला नहीं है। अतः किसी से क्या मोह करना।

जीव कुटुम्ब के अर्थ रात-दिन पाप करता है। न्याय व अन्याय का विवेक न करके धन संचय करता है। मर-खपकर जो लाता है वह सब परिवार खाता है। परन्तु तत्सम्बन्धी पाप वह अकेला ही भोगता है। नरकादि गतियों की यंत्रणा को भोगने में कोई भी हिस्सा नहीं बटवाता है। सब कुटुम्बी अपना-अपना रास्ता माप लेते हैं। इस लोक में भी मुसीबत के समय कोई साथ नहीं देता। वालमीकि ऋषि पहले डाकू थे। जंगल के किनारे पर रहते थे। उस रास्ते जो भी उनको फंस जाता था उसी को लूट लेते थे। एक दिन एक महात्मा जी आये। उसने उनको भी पकड़ लिया और कहा कि निकालो तुम्हारे पास क्या है? परन्तु साधु के पास क्या मिलता? साधु ने कहा कि तुम रात-दिन लूटकर जो धन कमाते हो क्या तुम्हारा परिवार इस सम्बन्धी पाप में भी तुम्हारा साथ देगा? चोर ने कहा कि क्यों नहीं? जब सब धन भोगते हैं तो पाप में भी अवश्य भागीदार होंगे। साधु ने कहा कि तुमने कभी पूछा है? चोर ने कहा कि पूछने की क्या बात है? यह तो स्पष्ट ही है। साधु ने कहा कि एक दफा पूछ तो लो। परन्तु यदि तुम भाग जाओ तो, लो मैं तुम्हें वृक्ष से बांध देता हूँ और वह साधु को वड़ी रस्सी से कसके बांध के घर गया। भयभीत होते हुए उसने मां से कहा कि मुझे जल्दी बचाओ, छुपाओ कहीं, मेरे पीछे पुलिस चली आ रही है। तभी तुरन्त मां बोली कि बेटा! यहां से भाग जाओ, नहीं तो साथ हम भी मारे जायेंगे। सबको क्यों मरवाते हो? चोर ने कहा कि माता मैं रोज धन लाता हूँ, उसको सब खाते हैं अब दण्ड भी सब भोगें। परन्तु माता ने कहा कि नहीं, मैं तो कहती हूँ कि पाप मत करो। कोई किसी के पाप को नहीं बंटवा सकता है। जीव स्वयं ही भोगेगा। इसी प्रकार फिर वह क्रम से पत्नी, पुत्र व बहन सबके पास गया। सबने यही उत्तर दिया। अब तो डाकू की आंखें खुल गई। वह आकर महात्मा के चरणों में पड़ गया। आज वह सच्चा महात्मा वन गया। अतः हे मनुष्य! जिस सन्तान व कुटुम्ब के लिए मरता व पचता है वह कोई भी साथ देने वाला नहीं है। जाग! अपने दिव्य चक्षुओं को खोल।

अभी तेरी तृष्णायें शान्त नहीं हुई हैं। परन्तु विचार, संसार का कौनसा पदार्थ तूने भोगा नहीं है। प्रत्येक पदार्थ को तूने अनन्त बार भोगकर छोड़ा है। ये सब पदार्थ अनेक बार तुझे प्राप्त हो होकर छूटे हैं। नित्य पूजा में पढ़ते भी हैं।

भव वन में जी भर घूम चुका कण-कण को जी भर-भर देखा।
मृग सम् मृग तृष्णा के पीछे मुझको न मिली सुख की रेखा।।
झूठे जग के सपने सारे झूठी मन की सब आशायें।
तन जीवन यौवन अस्थिर है क्षण भंगुर पल में मुर्झाये।।

हे मानव ! संसार में रहना बुरा नहीं। संसार को छोड़कर तू जायेगा भी कहाँ। केवल अज्ञान जनित मोह ही तुझे पीड़ित कर रहा है। उसको हटा दे तू परम सुखी होगा। जिन्होंने मोह को छोड़ दिया है वे सुखी हो गये। केवल भाव की ही महिमा है। यहां भी वैसे भाव को बनाने के लिये कहा जा रहा है। इससे गृहस्थी में बाधा न पड़ेगी परन्तु गृहस्थी स्वर्ग बन जायेगी। यहां तो दुःख से छूटने का उपाय बताया जा रहा है। दुखों के पहाड़ को जड़मूल से उखाड़कर फेंकने को कहा जा रहा है। उसके लिए ऋषियों ने यह भविष्य भावना वज्रदण्ड के समान प्रदान की है। देखिये संसार का अनित्य स्वरूप जान लेने पर गृहस्थ जीवन कैसे सुखी हो जाता है, यह निम्न दृष्टांत से स्पष्ट हो जायेगा। एक समय एक राजपुत्र जंगल में भ्रमण को गया। दैवयोग से वह एक महात्मा की कुटिया पर पहुंच गया। महात्मा के पूछने पर उसने बताया कि वह निर्मोहा नगरी से आया है तथा उसके पिता निर्मोही नामक राजा हैं। साथ ही यह भी बताया कि यह उनका नाम सार्थक है। इसको सुनकर साधु को आश्चर्य हुआ। उसके मन में उनकी परीक्षा का कौतूहल उत्पन्न हुआ। अतः वह राजपुत्र को कुटिया की रखवाली को नियुक्त करके निर्मोहा नगरी में गया। वहां वह पहले महल में जा रहा था कि मार्ग में ही उसका दूसरा राजपुत्र मिला। उसने उससे कहा कि हे राजपुत्र ! मुझे बताते अत्यन्त शोक हो रहा है कि तुम्हारे भाई को जंगल में शेर ने खा लिया। राजपुत्र ने कहा कि इसमें चिन्ता की क्या बात है जो संसार में आता है वह जाता भी है। यहां सदा

कौन रहा है। यह तो सराय है, इसमें तो यूं ही आना-जाना लगा रहता है, आदि। साधु ने सोचा इस भाई को क्या दुःख होता क्योंकि सम्पूर्ण राज्य का मालिक अकेला जो बन जायेगा ? अतः वह कुछ आगे ही बढ़ा कि दासी मिली। साधु ने शोक मुद्रा में वही समाचार उसको भी सुनाया। तब दासी ने कहा कि हे साधु ! यह जगत् तो वृक्ष के सदृश है जिस पर नाना देशों से पक्षी आकर रात्रि को शयन करते हैं और प्रातः होने पर अपनी-अपनी राह लेते हैं, आदि। साधु ने विचारा कि दासी को क्या दुःख होता क्योंकि इसको तो अपनी नौकरी से प्रयोजन है। अब वह माता के पास गया। माता को भी उदासी व विषाद भरे शब्दों से वही दुखद समाचार सुनाया। माता ने कहा कि हे साधु ! ये सब रिश्ते और नाते झूठे हैं। यहीं जुड़ते हैं और यहीं टूट जाते हैं। आत्मा का किसी से क्या नाता है ? उसका इस जगत् का नाटक पूरा हो गया वह चला गया। हमारा पूरा हो जायेगा फिर हम भी चले जायेंगे। इसमें शोक की क्या बात है ? आदि। इससे साधु का मन बड़ा विस्मित हुआ।

अब वह साधु असली मुर्दा साथ लेकर उसकी पत्नी के पास गया और कहा हे देवी ! तेरा संसार लुट गया। तेरा सुख लुट गया। तेरा सौभाग्य छिन गया। तेरी दुनियां सूनी हो गयी। तब पत्नी ने कहा कि हे साधु ! तूने योगी वस्त्र रंगे हैं परन्तु योग का रहस्य नहीं जान पाया। मेरे संसार का अर्थात् भव का विनाश हो गया इससे श्रेष्ठ मेरे लिए क्या हो सकता है ? यहां जगत् में कौन सदा रहा है। यह मुसा-फिर खाना है। कोई दो दिन ठहरता है तो कोई चार दिन। आगे-पीछे सबको जाना है। मेरे पति को ईश्वर ने बुलाया है इससे तो भगवान को उनसे अधिक प्यार हुआ। आदि। तब साधु ने कहा कि हे देवी ! तू बातें तो साधुवत् ज्ञानभरी कर रही है। परन्तु ये सर्व अविचारित रम्य है। तुझे पति से इतना भी प्यार नहीं है कि उसकी मृत्यु पर तनिक भी उदास नहीं हुई, जबकि तेरा पति तेरे लिये विलाप कर रहा था। क्या हुआ तेरा पातिव्रत्य ? रानी कहती है। हे साधु ! भगवान का इससे अधिक क्या उपकार मानूं ? पहले तो उनकी ओर से एक प्रतिनिधि मिला था सेवा करने के लिये। अब भगवान को

मुझसे अधिक प्यार हो गया। उन्हीं की कृपा से अव मैं साक्षात् भगवान की सेवा व उपासना करूं। पहले सांसारिक शृंगार व विलासमय जीवन था। अव मैं सात्विक व साध्वी जीवन व्यतीत करूंगी। मेरे पति ज्ञानी थे। जीवित रहते उनकी मैंने सेवा की। अव मृत्यु पर रोना पाप है, मोह है, अज्ञान है। मेरे पति मेरे लिए मृत्यु समय विशेप रूप से मेरे क्षणिक सम्वन्ध की चिन्ता क्यों करने लगे? आदि-आदि उसने दिव्य ज्ञान का उपदेश ही दे डाला साधु को। महात्मा की आँखें खुल गयीं और वह शर्मिन्दा होकर राज दरवार में गया और वहां जाकर भी वही समाचार सुनाया। राजा ने कहा हे महात्मन्! इस जगत् में यह प्राणी अकेला आता है और अकेला जाता है। कौन किसके साथ आया व साथ जायेगा। घर में एक पाहुना आया और चला गया। इसमें शोक की क्या वात है? आदि।

अव साधु वहां से लौटकर कुटिया पर आये। वहां पर उन्होंने राजकुमार से कहा कि हे राजपुत्र! संसार में कोई माता व पिता तथा पत्नी किसी की नहीं सभी स्वार्थी हैं। देखो! तुम्हारी मृत्यु का समाचार सुनकर भी कोई उदास नहीं हुआ अपितु सभी प्रसन्न रहे। तव राजपुत्र ने कहा कि हे भगवान! सौभाग्य है मेरा जो कि मैं ऐसे ज्ञानी कुल में उत्पन्न हुआ। उन्होंने झूंठा रुदन मचाकर मेरी आत्मा को सन्तप्त नहीं किया, उन्होंने प्रसन्नता दिखाकर मेरी आत्मा के प्रति सत्य प्रेम का अभिनय किया। तत्पश्चात् साधु ने अपनी सर्व माया समेट ली। देखिए इस कथानक पर से पता लगता है कि अज्ञान जनित मोह का त्याग करने से गृहस्थ जीवन कितना सुखी वन जाता है।

हे मानव! विचार थोड़ी-सी जीवन की झांकी में तू क्यों इतनी भाग-दौड़ व उछल कूद करता है। यह अज्ञान तेरे जीवन का सवसे वड़ा शत्रु है। ऐसी जन्म-मरण आदि की घटनायें तेरे जीवन में अनेकों आयी हैं व आती रहेंगी। ऐसे अवसरों पर अज्ञान एवं मोह के कारण तुझे जो पीड़ा होती है वह अवर्णनीय है। अत: उनसे वचने को सत्य की भावना कर। संसार के इस विनाशशील स्वभाव को समझ। अपने जीवन में कुछ कल्याण कर। वहती गंगा है जिसको पार उतरना है

वह उतर जाओ। जो आलस्य में रह जायेगा वह पीछे रोता रहेगा और पछतायेगा। सत्य प्रभु की शरण में जाना ही कल्याण का प्रतीक है।

गगन नगर कल्पं सङ्गमं वल्लभानाम्,
जलद पटल तुल्यं यौवनं वा धनं वा।
सुजन सुत शरीरादीनि विद्युच्चलानि,
क्षणिकमिति समस्तं विद्धि संसारवृत्तम्॥

अर्थ—हे प्राणी! स्त्रियों का संगम आकाश में देवरचित नगर के तुल्य है। यौवन वा धन जलद पटल के समान है। कुटुम्बीजन एवं पुत्र शरीरादिक विजली के समान चंचल हैं। इस प्रकार इस जगत की अवस्था अनित्य जानकर इसमें नित्य बुद्धि मत कर। यही दुःख का कारण है।

———

सोचो कोई शरण नहीं

माया से आवृत इस जगत् को ज्ञानी जीव ही सत्य रूप से जानता है। वही सदा सुखी रहता है, माया उसको भुलावे में नहीं डाल सकती। अतः वह मायोत्तीर्ण हो जाता है। ज्ञानी जीव आत्मा एवं परमात्मा की परम शरण को प्राप्त होकर निर्भय हो जाता है। वह अपनी अन्तरंग आत्मा की रक्षा करता है। ज्ञानी जीव सत् आत्मा को जानकर अमर हो जाता है। वह संसार की दुःख व सुखपूर्ण नदी से उत्तीर्ण हो जाता है। परन्तु अज्ञानी प्राणी अनादि अज्ञान के कारण उसके ज्ञान चक्षु उन्मीलित न होने से अपने सत् स्वभाव को नहीं जानता। वह देहात्मा बुद्धि होने से इस नश्वर देह की रक्षा करने के विकल्प बनाया करता है। जो नश्वर है उसकी रक्षा करना रेत की दीवार को टिकाये रखने के तुल्य असम्भव है। देह की रक्षा के अज्ञानमय विकल्पों के कारण उसके हृदय में संकल्प-विकल्प रूप संसार की रचना हो जाती है। यही संसार है। संसार ईंट-पत्थरों का बना नहीं है। संसार तो अन्तरंग इस अशान्त व दुखदायक विकल्प का नाम है। वाह्य जगत् को संसार नहीं कहते हैं। इस जगत् में तो जीव को रहना ही है, इसको छोड़कर कहीं भाग नहीं सकता। परन्तु जो मन में होने वाले असत् विकल्पों का नाश कर देता है वह मुक्त हो जाता है। पूर्ण हो जाता है।

अज्ञानता के कारण यह मनुष्य देह की रक्षा के लिए तथा लौकिक सुख की प्राप्ति के लिए भौतिक विषयों की शरण में जाता है। जब इन्द्रिय कषाय को वह सहन करने में असमर्थ होता है तब निराश होकर जड़ वस्तुओं से भिक्षा मांगता है परन्तु आकाश पुष्प को प्राप्त करने वत् उसको निराश होना पड़ता है। रोता है–गिरता है, पड़ता है। जीवन रक्षा के लिए डाक्टरों के आगे गिड़गिड़ाता है, परन्तु जब

देह नश्वर है उसको डाक्टर अमर कैसे बना सकता है ? डाक्टर स्वयं रोग व मृत्यु से अरक्षित है अतः दूसरे की रक्षा क्या करेगा ? मृत्यु के क्षण को कोई नहीं टाल सकता। जिस प्रकार शेर के मुँह में पड़े हिरण के बच्चे को तथा बिल्ली के पंजे में आये चूहे को कोई छुड़ाने में समर्थ नहीं है, इसी प्रकार काल रूप यमराज के हाथ में आये हुए को कोई बचा नहीं सकता। इन्द्र, धरणेन्द्र, नागेन्द्र भी मृत्यु से रक्षा नहीं करता। स्वर्ग का राज्य छोड़कर इन्द्र को भी यम की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। मणि-मंत्र आदि कुछ भी रक्षा नहीं कर सकती। समस्त ऐश्वर्य, धन व ऋद्धि व सिद्धियें विफल हो जाती हैं। जिस समय सिकन्दर भारत से लौटकर गया, तब उसको पेचिश हो गयी। लुकमान नामक हकीम बड़ा चतुर था। सदा वही सिकन्दर का इलाज किया करता था। तब भी उसने सिकन्दर को तेज से तेज औषधि दी परन्तु बादशाह की पेचिश में कोई अन्तर न पड़ा। सिकन्दर ने कहा कि लुकमान ! तेरी औषधि में अब ताकत क्यों नहीं है। वह अपना करिश्मा नहीं दिखाती ? लुकमान ने कहा जनाब ! मेरी औषधि में तो ताकत है परन्तु आपका अन्तकाल आ गया। वह असर नहीं करती है, इसमें औषधि का दोष नहीं। यूं कहकर लुकमान ने एक चुटकी भरकर औषधि नदी में डाल दी। उससे तुरन्त नदी का जल भी जम गया। तात्पर्य कि मृत्यु का समय आ जाने पर औषधि आदि सब व्यर्थ जाती हैं। यह काल बड़ा बलवान और क्रूर कर्मा है। जीवों को पाताल में, ब्रह्मलोक में, इन्द्र के भवन में, समुद्र के तट, वन के पार, दिशाओं के अन्त में, पर्वत के शिखर पर, अग्नि में, जल में, हिमालय में, अन्धकार में, वज्रमयी स्थान में, तलवारों के पहरे में, गढ़कोट भूमि घर में, किसी भी विकट स्थान में, यत्नपूर्वक बिठाओ तो भी यह काल बलात्कार जीवों को ग्रसीभूत कर लेता है। काल के लिए कोई भी स्थान अगम्य नहीं है। इसके आगे किसी का वश नहीं चलता है। एक राजा को साधु ने बताया कि बिजली के गिरने से आज से सातवें दिन तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी। राजा ने मृत्यु से बचने के लिए एक सन्दूक बनवाया और उसमें स्वयं बैठ गया। उस सन्दूक को नदी के बीच में रख छोड़ा, जिससे बिजली गिरे तो राजा को कोई हानि न हो, जल के कारण। परन्तु काल की गति को कौन टाल सकता है।

दैव, दैत्य, विद्याधर, जल देवता, ग्रह, जन्तर, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र, चक्रवर्ती व धरणेन्द्र तथा इन्द्र आदि सब मिलकर भी यदि दैव को टालना चाहें तो वह दुर्दम्य है। काल जैसे बालक व निर्धन को ग्रसता है उसी प्रकार वृद्ध, धनिक, शूरवीर को भी ग्रसता है। पराक्रमी मनुष्य तब तक दौड़ता है जब तक कि उसको काल अपना विकराल मुँह नहीं दिखाता। अतः राजा की पेटी जल व वायु के वेग से किनारे आ लगी और तुरन्त वहां बिजली गिरी और राजा मर गया। काल ऐसा निर्दयी है जिसने अपने कार्य पूरे किये हों अथवा न किये हों अथवा प्रारम्भ मात्र किये हों, बिना विचारे ही उनको तत्काल मार डालता है। जिनके इशारे मात्र से जगत् कांपता है, जिसके पग अंगूठे के स्पर्श मात्र से पर्वत कम्पायमान हो जाते हैं, ऐसे सुभटों को भी काल ने एक क्षण में खा लिया। उनकी आज पृथ्वी पर कथा मात्र शेष रह गयी है।

यह समस्त जगत् जन! अन्त समय रूपी दाढ़ से चिन्हित काल-रूप सर्प के मुखरूपी विवर में गाढ निद्रा में सो रहे हैं, उनमें प्रत्येक को यह निर्दय बुद्धि काल निगलता जाता है। यह मूढजन दूसरों की मृत्यु को देखकर रोता है सो व्यर्थ ही है। रोने से उन जीवों का पुर्न-आगमन तो होगा नहीं। ये मूढ़जन दूसरों की आयी हुई आपदाओं को इस प्रकार नहीं जानते, जैसे असंख्य जीवों से भरा हुआ वन जलता हो और वृक्ष पर बैठा हुआ मनुष्य कहे कि देखो ये सब जीव जल रहे हैं, परन्तु वह नहीं जानता कि जब यह वृक्ष जलेगा तब मैं भी इनके समान जल जाऊँगा। यह बड़ी मूर्खता है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव इष्टजन की मृत्यु होने पर शोक किया करते हैं परन्तु यह नहीं देखता कि वह स्वयं भी काल की कराल दाढ़ों में फँसने वाला है। मोही जीव रातदिन आशा व कल्पनाओं के आधार पर सन्तान को पालता है, रातदिन पाप करता है। वह सोचता है कि यह पुत्र बड़ा होकर मेरी सेवा करेगा। परन्तु क्या पता है कि पुत्र पहले ही चल बसे अथवा कुपुत्र होकर तेरे जीवन को कष्टमय बना दे। पिता का हत्यारा बन जाये जिस प्रकार कि कंस ने अपने पिता

को ही जेल में डाल दिया। आज तो इस प्रकार की घटनायें नित्य देखी जा रही हैं। संसार में कौन रक्षक है ? जो माता पुत्र को प्रेम से पालती है ऐसी माता भी समय पड़ने पर भक्षक बन जाती है। सर्पिणी अपने गर्भ से उत्पन्न अण्डों को स्वयं खा जाती है। कंस को पैदा होते ही पेटी में बन्द कर नदी में बहा दिया गया। पत्नी पति की हत्यायें करती देखी गयी हैं तथा पति पत्नी की मृत्यु का कारण बनता देखा गया है। मृत्यु के समय सब कुटुम्बी खड़े रहते हुए भी बचा नहीं सकते, शरीर में रोग व पीड़ा होने पर कोई रक्षा नहीं कर सकता। सभी रिश्ते नाते देह के हैं। मृत्यु होने पर उस देह से भय खाने लग जाते हैं। अतः संसार में कोई किसी का नहीं, कोई शरण नहीं।

एक महात्मा प्रातः के समय गली में से जा रहे थे। तब एक माता को चक्की पीसते हुए देखकर रो पड़े। महात्मा और रुदन देखकर वहां भीड़ इकट्ठी हो गयी। सबने महात्मा से रोने का कारण पूछा। परन्तु साधु चुप था क्योंकि जानता था कि कोई उसकी बात को समझने वाला नहीं है। बहुत देर के पश्चात् एक सज्जन महात्मा आये। उन्होंने भी रोने का कारण ज्ञात करना चाहा तब साधु ने कहा कि ये माता चक्की पीस रही है इसको देख व सुनकर मुझे रोना आ गया। चक्की के कारण रोना आया सुनकर एकत्रित भीड़ को अति आश्चर्य हुआ। उनको तो आश्चर्य हुआ ही साथ ही आप सुनने वालों को भी आश्चर्य हो रहा होगा। तब महात्मा ने कहा कि चक्की में प्रकार माता बिना विवेक के गेहूँ व चने का गल्ला डाल रही है और सबको पीसती जा रही है इसी प्रकार संसार रूप चक्की को काल पीस रहा है और उसमें समस्त जगत् जन रूपी अन्न को पीस रहा है। अर्थात् समस्त प्राणी मृत्यु के गले में पड़ रहे हैं। परन्तु जिस चक्की की मध्य कीली का जो भी आश्रय ले लेता है वह अभय बन जाता है वह अमर एवं सुरक्षित हो जाता है। उसको वह चक्की पीस नहीं सकती इसी प्रकार जो इस जगत् रूप चक्की में पड़ते ही परमात्मा रूप कीली की शरण में चला जाता है वह भी काल से अभय हो जाता है। वह जन्म व मरण से तर जाता है। अतः प्रभु ही परम शरण है।

वही मणि, मंत्र, औषधि व राजाधिराज है। वही कुटुम्बी व परम मित्र है। अतः उन्हीं की शरण ग्रहण करनी चाहिये।

एक समय एक मुसाफिर व्यापार के लिए विदेश में जाने को तैयार हुआ। उसने अपना माल जहाज पर लाद दिया और स्वयं भी उसमें सवार हो गया। ज्यों ही जहाज समुद्र के मध्य में आया त्यों ही तूफान आया। जोरों की आंधी चल पड़ी। समुद्र के समस्त जन्तु क्षुभित हो गये। आकाश में काली-काली घटायें उमड़ आई, मानो यमराज का भयंकर रूप ही साकार हुआ हो। ऊपर से रात्रि भी प्रगट हुई। चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार घोर अन्धकार। बिजली कड़कने लगी मानो मृत्यु का सन्देश सुना रही हो। ऐसे दुर्दिन को वहां कौन सहाई था। आज न मालूम किसका मुँह देखकर घर से निकले थे। आज की रात्रि तो मानो यमराज के शासन की सूचक है। नाव डगमगा रही थी। जीवन की आशा न रही थी। लहरों के साथ-साथ ही मानो मुसाफिर का चित्त भी धड़क रहा था। आज तो समस्त पौरुष ढीले पड़ गये। अहंकार टूक-टूक हो गया और पुकारने लगा अपने प्राण रक्षक प्रभु को। अशरण शरण दया निधान को। समुद्र का जल उछल पड़ा, नाव डगमगायी और पहुँच गयी समुद्र के गम्भीर गर्भ में। समस्त धन समुद्र का आहार बन गया। परन्तु जिसने अपनी जिह्वा से प्रभु का नाम लिया है वह व्यर्थ नहीं जाता। उसकी रक्षा अवश्य होती है। दैवयोग से एक लकड़ी का टुकड़ा उसके हाथ लग गया जिसके सहारे वह तैरने लगा। परन्तु समुद्र के थपेड़ों को निरन्तर सहते-सहते वह बेहोश हो गया। तब भी लकड़ी के आश्रय वह बहता रहा। प्रातः हुआ, सूर्य की पावन किरणों के प्रताप से समुद्र भी शान्त हो गया। आकाश स्वच्छ था। व्यापारी तैरता हुआ किनारे आ लगा। ठन्डी हवा लगने से उसको होश आया। उसने आंखें खोलीं और धैर्य व साहस करके उठा और पृथ्वी पर आया। तब विचारता है कि मैं कौन हूं? कहां से आया हूं? यह कौन देश है? यहां के निवासी कैसे हैं? मुझे क्या करना चाहिये? आदि-आदि। जब वह इन विचारों में डूबा चला जा रहा था उसी समय उसको एक भयंकर हाथी अपने पीछे आता दिखाई

दिया। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ा त्यों-त्यों हाथी अधिकाधिक निकट आता गया। व्यापारी घबराया, रक्षा का कोई उपाय न सूझने पर वह दौड़ कर एक ऊंचे वृक्ष की टहनी पकड़कर लटक गया। कुछ चैन पाया। तब उसने ऊपर की ओर देखा। देखता है कि ऊपर एक मधुमक्खी का छत्ता लगा हुआ है। उसमें से शहद टपक रहा है। उसने लालसा से मुंह खोल दिया और एक बूंद उसके मुख में पड़ गया। अहा हा! कितना मधुर है यह? एक और पड़ जाये तो कितना अच्छा हो? ऐसा सोचकर उसने मुख खोल दिया। इतने में हाथी भी आ गया और वृक्ष के तने को सूंड से पकड़कर जोर से हिलाने लगा। वृक्ष के हिलने से छत्ता हिला और सारी मक्खियां क्रोधित होकर व्यापारी के शरीर पर चिपट गईं। उसके तन को नोच नोचकर खाने लगी। व्यापारी अति दुखी हुआ। तब उसकी दशा को देखकर दयानिधि गुरू आये और उन्होंने कहा कि देख! सम्भल! जिस डाल को पकड़े तू लटक रहा है, उसको दो चूहे काट रहे हैं। डाल कटेगी और तू गिरेगा नीचे कुएं में जिसमें पड़े चार भयंकर अजगरों के मुख का ग्रास बन जायेगा। आ, मैं तुझे आश्रय देता हूँ, तू अपना हाथ पकड़ा, मैं तुझे इस दुःख से मुक्त कर दूंगा। व्यापारी गुरु की करुण पुकार को सुन कर ज्योंही उनकी शरण को प्राप्त होना चाहता है, त्योंही ऊपर की ओर देखता है और कहता है कि गुरू जी! एक बूंद और चख लूं जरा। गुरू पुनः पुनः पुकार कहते हैं परन्तु वह बिन्दु स्वाद में आसक्त हुआ गुरू की वाणी की अवहेलना कर देता है। वह मक्खियों के काटने तथा डाल के कटने की ओर से आंखें मीच लेता है। वह मृत्यु को कुछ भी नहीं समझता। अन्त में डाल कटती है और वह अजगरों का ग्रास बन जाता है।

यह कथा बड़ी रोचक लगी तथा मन में आया कितना मूर्ख था वह व्यापारी? परन्तु भैया! कथा किसी दूसरे को नहीं है। सभी संसारी जीवों की है। जब जीव गर्भ में आता है तब अपनी पूर्वोपार्जित समस्त सम्पत्ति वहीं छोड़ आता है। ज्योंहि गर्भ से बाहर आता है तब सोचता है कि मैं कौन व कहां हूँ? पश्चात् काल रुप हाथी उसके पीछे दौड़ता है। अपनी रक्षा करने की आयु रूपी बेल को पकड़कर वह

लटक जाता है परन्तु उस डाल को भी रात-दिन रूप सफेद व काले दो चूहे काट रहे हैं, और काल रूप हाथी आकर जोर से उसको हिला रहा है। आयु रूप वेल कटे तभी जीव भवरूपी कूप में चारों गतियों रूप अजगरों का ग्रास वन जाये। इस आयु रूप डाली पर लगने वाला मक्खियों का छत्ता ही यह कुटुम्व है तथा गृहस्थ के विषयों में आने वाला तनिक सा आनन्द ही शहद है। कुटुम्ब रूप मक्खियाँ जव आयु हिलती है तव-तव अधिक-अधिक इसके तन को खसोटती जाती हैं। परन्तु विषय के तनिक से सुख के पीछे यह जीव किसी की परवाह नहीं करता। ऐसे संसारी जीव की दयनीय दशा देखकर आचार्य व परमगुरू उसे सम्वोधने आते हैं, परन्तु यह अज्ञान व आसक्तिवश कहता है कि जरा! छोटे पुत्र की शादी का सुख और देख लूं अथवा अमुक सुख और भोग लूं। ऐसा करते-करते आयु रूप वेल कटती है और वह नरकादि गतियों को प्राप्त होता है।

हे प्राणी! यह मानव भव मिला है। इसमें कोई शरण नहीं एक अशरश-शरण परमात्मा की शरण ही संसार के भयों की निवारक है। वही समस्त रोगों की अचूक दवा है। अपनी आत्मा की शरण को प्राप्त कर वही वज्र निर्मित कांटे हैं। वहाँ काल का प्रवेश नहीं। वहां रोग का प्रवेश नहीं। वही अभयपद है। वही परम शरण है। वह समस्त शत्रुओं के अगम्य अत्यन्त गुप्त है। वही रक्षक है।

एक समय तीन व्यक्ति चले जा रहे थे। तव ही विजली कड़की परन्तु गिरी नहीं। पुन: पुन: विजली कड़कती थी, परन्तु वह गिर नहीं रही थी। तीनों ने कहा कि भई! विजली किसी एक पर गिरना चाहती है, इसीलिये वह कड़ककर भी नहीं गिर रही है अत: कहीं एक पापी तीनों को न ले मरे अत: उस एक को पृथक हो जाना चाहिये। यह निर्णय कर उनमें से एक पृथक हो गया। अपनी मृत्यु निकट जान कर वह अत्यन्त रोया व विलाप किया। परन्तु पृथक हो जाने पर उस पर विजली न गिरी। तव दूसरे की वारी आई, वह भी रोया परन्तु उस पर भी विजली न गिरी। अव आई तीसरे की वारी। उसने सोचा कि अव तो मैं ही वचा। मुझे जव मरना ही है तो क्यों न हंसकर

मरूं। उसने प्रभु का नाम स्मरण किया। तब ही उसके चित्त में विवेक ज्योति प्रगट हुई, जिसमें उसने अपना अमरत्व देखा व आत्मा की सत्स्वरूपता प्रत्यक्ष हो गई। तब वह प्रसन्न मन से सबसे गले मिल हँसते-हँसते पृथक् हुआ। उसको मृत्यु का अब कोई शोक न था क्योंकि वह आत्मा की शरण को प्राप्त हो चुका था। शरीर की नश्वरता से उसको शोक क्यों हो ? अब बिजली तुरन्त गिर पड़ी। परन्तु उन दोनों पर, वही पापी थे। मृत्यु के रहस्य से अज्ञात थे। परन्तु जिसने भगवान की शरण प्राप्त की है, जो आत्मा के वज्रमय कोटों से सुरक्षित है उसको कोई शक्ति हानि नहीं पहुँचा सकती। जिनको ज्ञान है, जिनके ज्ञान चक्षु खुल गये हैं उनको जगत की शरण की आवश्यकता नहीं है। परन्तु जो अज्ञानी है उसे लौकिक शरण की अप्राप्ति में शोक होता है, उसका मानसिक सन्तुलन भंग हो जाता है अतः पागल हो जाता है। हृदयगति रुक जाने से मृत्यु तक हो जाती है। अतः अपनी शान्ति व सुख के लिये प्रभु की शरण में जाना चाहिये।

———

संसार असार है

अहो ! ब्रह्मानन्द की निराली छटा छटक रही है। क्या ही मधुर है यह आनन्द ? ऊपर भी आनन्द, नीचे भी आनन्द, भीतर भी आनन्द, बाहर भी आनन्द, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है यहां। अहो ! आनन्द धन है यह। जिस प्रकार मिश्री मीठे से परिपूर्ण है, इसी प्रकार यहां भी आनन्द की पूर्णता है। यहां कोई चिन्ता नहीं। यहां न जगत् की कलकलाहट न विकल्प और न संताप। मानो जगत् का नाम निशान ही नहीं रहा। कितना सुहावना व मधुर है यह। जो इस आनन्द को प्राप्त कर लेता है, जो एक बार इस अमृतरस में डुबकी लगा लेता है वह माया से उत्तीर्ण हो जाता है। परन्तु जो ब्रह्मानन्द की मधुर झलक को प्राप्त नहीं कर पाता, जो उस ब्रह्म के साये से भी दूर रहता है उसको माया अपने पाश में बांधे रहती है। माया सारे जगत् पर एकछत्र राज्य कर रही है। वह माया उस विषयासक्त को संसार में पटक-पटक कर मारती है, ताड़ना करती है, पीड़ित करती है। अरे ! चेतन संभल अब सुयोग मिला है। मानव देह व उत्तम कुल मिला है। जिज्ञासा व सत्समागम मिला है, ज्ञान व विवेक भी मिला है। अब विषयानन्द को छोड़ और ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर। काहे को चिन्ता करता है, इस चिन्ता का ही तो अभाव कराना है, यही तो तेरे जीवन का रोग है। "अगर कुछ विपत्ति आई तो, अथवा यह थोड़ा सा काम और कर लूं" इस प्रकार की ग्रन्थ को छोड़। जब संसार को छोड़ना ही है तब "यह और वह" की चूं चपर क्या ? "यह ले छोड़ दिया," जैसे धागा तोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार समस्त बन्धनों को एक दम काट डाल। सोच-विचार करना ही कमजोरी है। जब जगत् की क्षण भंगुरता जान ली गई तब कौन मूर्ख इसमें फंसने का प्रयत्न करेगा ? अरे ! तेरा ब्रह्मानन्द का सुःस्वादु व्यञ्जन तुझे भोग के लिये मिल रहा है, क्यों नहीं चख लेता है ? किसी के आगे भोजन की थाली

परोसी रखी हो और उसको वह न खावे तो उसके भाग्य का दोष है। इसी प्रकार तेरे आगे ब्रह्मानन्द रूप अमृतमय भोजन की थाली सजी रखी है, यदि भूखा होते हुए भी तू न खावे तो इसको तेरा दुर्भाग्य न कहें तो क्या कहें ? अर्थात् इससे प्रतीत होता है कि तुझे अमृत को नहीं खानी अपितु वमन को खाना ही तेरे भाग्य में लिखा है। अरे ! इस अमृतमय भोजन को कर ले, जिससे भव-भव की क्षुधा शान्त हो जायेगी।

आज तक जगत् के कोने-कोने में घूमकर देखा। आकाश का कौन सा स्थान है जहां यह जीव सुख प्राप्ति के लिये न गया हो, परन्तु आज तक सुख न मिला। यदि कदाचित सुख मिला होता तो आज यह सुख प्राप्त करने के लिये आतुरता न देखी जाती। परन्तु भैय्या ! क्या जगत के पर-पदार्थों से सुख की भिक्षा माँगना युक्त है। जो दूसरों की वस्तु चोरी करके सुख प्राप्त करना चाहता है उसको तो दण्ड ही मिला करता है, अतः जो मनुष्य अपने आत्मिक धन को छोड़ कर जड़ वस्तुओं से सुख प्राप्त करना चाहता है वह अन्धकार में वन्ध्या पुत्र के हवा के घोड़े पर सवार होकर जाते देखकर उसको आकाश पुष्प का हार पहनाने के तुल्य है। अर्थात् जगत् में सुख नहीं है। अपनी विभूति को पहिचान। जब तक उसको नहीं जाना तभी तक विषयों में जाता है। यह जगत् तो निस्सार है। कोई भी साथ देने वाला नहीं। इसको देखने व आनन्द लेने की इच्छा को तिलाञ्जलि दे दे। इस जगत् में जितना सुख खोजोगे उतना-उतना धोखा खाना होगा। परन्तु हाथ कुछ न लगेगा। जिस प्रकार केले के स्तम्भ को छीलते जाओ, उससे कुछ न मिलेगा। प्याज के छिलके को उतारते जाओ उससे बदबू ही आयेगी। अतः अपने हृदय में स्थित, गुप्त भंडार में से आनन्द रूप व्यञ्जन का भोग लगा। पर वस्तुओं से हट। तू स्वयं आनन्द का खजाना है। परन्तु न जानने के कारण ही भटक रहा है। कितना आश्चर्य है कि आनन्दपति होते हुए भी आज भिखारी बन दर-दर की ठोकरें खा रहा है। कितनी दयनीय दशा है इसकी ?

एक समय एक शिष्य गुरू के पास गया। निवेदन किया कि भगवान मुझे शान्ति व आनन्द दे दीजिये। गुरू ने कहा कि जाओ

अमुक तालाव में मगरमच्छ रहता है, उससे मांगो वह तुम्हें सुख एवं आनन्द देगा। शिष्य सोचने लगा गुरू जी ने कैसी विचित्र वात कही। वह मगरमच्छ शान्ति को क्या जानता है। परन्तु गुरूजी तो विचारज्ञ हैं कुछ सोचकर ही मुझे भेजा है मच्छ के पास। अतः वह मच्छ के पास गया और उसे गुरू जी का आदेश सुना दिया। मच्छ ने कहा हां मैं तुम्हें अवश्य आनन्द दूंगा पर मेरी एक शर्त है। वताओ तुम्हारी क्या मांग है? मैं उसे अवश्य पूरी करूंगा, शिष्य ने जिज्ञासा से पूछा। मच्छ ने कहा कि "मुझे वहुत जोर से प्यास लग रही है जरा पानी पिला दो," तव वताऊंगा तुम्हें आनन्द का उपाय। शिष्य ने कहा कि मुझे वड़ी हंसी आ रही है कि तुम जल में रहते हुए भी प्यासे हो, आपके पास पानी है चाहे जितना पी लो। तव मच्छ ने कहा कि वस तुम भी आनन्द के समुद्र में रहते हो, चाहे जितना और जव चाहो पीलो। कौन रोकने वाला है। अतः भैय्या! आनन्द स्वरूप होते हुए भी उसको भूले हैं, आज उसी को प्राप्त करो।

सच्चा आनन्द भोगने में नहीं अपितु जगत् को देखने में है। अतः जगत् का दर्शक वन पात्र मत वन। जगत् रूप रंगमंच पर आकर जो इस नाटक का पात्र वनता है वह उस भाव से तन्मय होने से दुखी व सुखी होता है, परन्तु जो इस नाटक का दर्शक वनता है, वह उस दुःख व सुख से अतीव आनन्द को प्राप्त करता है। जिस प्रकार हकीकत राय के नाटक का जो अभिनायक अभिनय करते हैं वह तो सुख-दुःख, कटुता व क्लेश के भावों के साथ तन्मय होते हैं, अतः वह उस नाटक का आनन्द नहीं ले सकते तथा वह तो केवल दूसरों को वैसा भाव वना कर दिखाने की व्यग्रता में रहते हैं। परन्तु जो उसके दर्शक होते हैं, उन को नाटक का आनन्द मिलता है। उनमें भी जो उन पात्रों को देखकर राग-द्वेष भाव से युक्त होते हैं वह भी नाटक का वास्तविक आनन्द नहीं ले पाते। अतः विश्व के विशाल नाटक का दर्शक वने। उसके पात्र वनकर वहुरूप मत रचें। आज भी जगत् को जान रहे हैं परन्तु असली रूप से नहीं। टार्च की लाईट को देखना असली वही है जिसमें दूसरे पदार्थ दिखते हुए भी दिखाई न दें, केवल प्रकाश दिखाई दे। परन्तु जो प्रकाश को न देखकर पदार्थों को देखते हैं तव वास्तव में

टार्च की लाईट को जाना नहीं कहा जा सकता है इसी प्रकार आज भी हम ज्ञान रूप हैं परन्तु हमको जब पदार्थ दिखाई न देकर केवल ज्ञान दिखाई देगा, वही ज्ञान का वास्तविक रूप होगा। उसी को जानने में आनन्द है। सत्-चित्-आनन्द रूप ही वह ज्ञान है। अतः जगत् का दर्शक बन। ज्ञान के सच्चे रूप को जान।

इस जगत् के अज्ञान जनित मोह को त्याग। यहाँ कोई किसी का नहीं है, व्यर्थ ही उन्मत्तवत् मेरा-मेरा करता फिरता है। रात-दिन कुटुम्ब के अर्थ पचता है, झूठ बोलता है, पाप करता है। परन्तु ये सब कुटुम्बी स्वार्थ के साथी हैं। इस संसार में विषय व सम्बन्धियों के लिये पाप करके नित्य संसार में भ्रमण करता रहा। अनन्त काल व्यतीत हो गया जिसको आगम पंच परावर्तन के नाम से कहा है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव व भाव। ये पाँचों परिवर्तन जीव के भ्रमण के अनन्त काल का दिग्दर्शन मात्र कराते हैं। ये पाँचों उत्तरोत्तर अधिकाधिक बड़े-बड़े होते हैं। इनमें सबसे छोटा द्रव्य परिवर्तन है। साधारणतः वह भी अनन्त काल प्रमाण का है। सद्ज्ञान एवं आत्मदर्शन के प्रभाव से जीव के संसार परिभ्रमण का काल अर्ध पुद्गल (द्रव्य) परावर्तन मात्र रह जाता है। इससे अधिक वह जीव संसार में भ्रमण नहीं कर सकता। इसके पश्चात नियम से मोक्ष हो जाती है। इन पांचों परिवर्तनों को अति सक्षेप में बताती हूं। वैसे तो इसका विस्तार अति है उसको जानने के लिए गोम्मटसारादि ग्रन्थ का पठन अपेक्षित है। यहां पर तो केवल भ्रमण के अनन्त काल का कुछ आभास करा देना मात्र प्रयोजन है।

इतना अनन्त काल संसार में पचते हो गया। परन्तु कहीं भी सुख की रेखा मात्र न पाई। जगत् सब स्वार्थ का है। जब तक पैसा रहता है तब तक सब बात करते हैं पूछते हैं। परन्तु वृद्धावस्था में जब शरीर से काम नहीं होता तथा पैसा पास नहीं रहता, तब उस प्रिय बन्धु की चरपाई ड्योढ़ी में डाल दी जाती है। बच्चे मारते हैं, लाठी छीन लेते हैं, हँसी करते हैं, घर की बची हुई रूखी रोटी खाने को मिलती है। कोई पुत्र बात नहीं करता। सब यह चाहते हैं कि कौन दिन हो कि यह बूढ़ा मर जायेगा। जिस कुटुम्बी के लिए चिन्ता करते-करते मरा

जाता है, हार्टफेल हो जाते हैं, दिमाग खराब हो जाता है वह कुटुम्बी दुःख के समय सब किनारा कर जाते हैं। संसार में जीवन का साथी पत्नी मानी जाती है, परन्तु बिना स्वार्थ के वह भी बात नहीं करती। एक समय एक वैश्य को अपनी पत्नी के प्रति अतीव प्रेम था। पत्नी को भी पति के प्रति अधिक भक्ति थी। अपनी पत्नी के पातिव्रत्य धर्म पर वैश्य को भी दृढ़ विश्वास था। एक समय वैश्य ने महात्मा का उपदेश सुना कि संसार में समस्त सम्बन्ध स्वार्थ हैं। तब वैश्य ने कहा कि महाराज! मेरी पत्नी तो अति भक्ता है, उसका प्रेम सच्चा है। महात्मा ने बतलाया कि तुम्हारा यह भ्रम है परीक्षा करके देख सकते हो। वैश्य के मन में बात बैठ गयी, उसने परीक्षा की ठान ली। घर जाकर उसने पत्नी को कहा कि आज तो कारखाना फेल हो गया तथा लोगों की देनदारी बढ़ गई अब हम रंक हो गये। कई दिनों तक यही बात कहकर तथा ऐसा ही आचरण करके उसने अपनी पत्नी के मन में यह बात बैठा दी कि अब उसके पति एक दरिद्र हैं। इसके पश्चात एक दिन वह स्वय श्वास रोककर पड़ गया। इससे पत्नी ने समझा कि वह मर गया है। अब वह सोचने लगी कि यह तो मर गया अब मुझे रोना पडेगा। परन्तु अब तो मैं भूखी हूँ, बिना खाये रोऊंगी कैसे? सर में चक्कर आ जायेगा। जब सब परिवार इकट्ठा हो जायेगा तब तो खा न सकूंगी। परन्तु अब इतना समय भी नहीं है कि जो रोटी बना लूं अतः उसने जल्दी-जल्दी अंगीठी जलाई तथा हलवा व पूड़े बनाकर खाये तथा कुछ बचाकर संध्या के खाने के लिये रख दिये क्योंकि फिर बनाने का समय न मिलेगा। अब वह घर का दरवाजा खोलकर स्वामी के पास गई और उसका सर गोद में रखकर जोर-जोर से रोने लगी। सब परिवार के लोग इकट्ठे हो गए। इतने में ही शरीर में श्वास की क्रिया प्रगट होने लगी और धीरे-धीरे मानों वह होश में आ गया। उसको सब मालूम तो था ही अतः उसने कहा कि मेरा तो हलवा खाने को मन कर रहा है और उसने हलवा जा कर खाया। अब उसके ज्ञान चक्षु खुल गए। उसने इस रहस्य को किसी को बताया तो नहीं परन्तु अपनी पत्नी को एकान्त में बताया और स्वयं वैराग्य लेकर चला गया। उसे सांसारिक प्रेम का नग्न वेश दिखाई दिया। इसी को भर्तृहरि जी ने भी कहा है कि अब पास धन नहीं रहा, शरीर शिथिल

हो गया; मित्र चल वसे, प्रिय पत्नी भी किनारा कर गई अब तो जंगल ही हमारा आवास होगा और प्रभु के चरण से प्राप्त आनन्द ही भोजन। भर्तृहरि वेश्यागामी थे। वे भी जब जगत् के स्वार्थ को जान गए तव उसको त्याग कर उन्होंने ब्रह्म से अपनी लौ लगायी।

इस जगत में चारों गतियों में यह जीव दुःख सहता फिरता है। नरकगति में सागरों तक वेदनायें सहीं। वहां पर प्राकृतिक, शारीरिक, मानसिक, पाशविक व देवकृत समस्त पीड़ाओं को सहन किया। तिर्यंचगति के दुःख तो आप देख ही रहे हैं। गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास, मार, छेदन, भेदन, भार वहन आदि के दुःख सहता हुआ यह जीव वेदना व सन्तापों को सहन करता रहा। मनुष्य गति के दुःख आप भोग रहे हैं, रात-दिन चिन्ता, तृष्णा से जो सन्ताप होता है वह तो भोगने से सम्वन्ध रखता है। तत्फलस्वरूप हार्टफेल, दिमाग खराव होना तथा फालिज पड़ जाने पर जीते जी सड़ना, यह क्या कम दुःख है? देवगति में भी दूसरे वड़े देवों की सम्पत्ति को देख देखकर जलने का संताप यहां के दुःख से भी अधिक है। सम्पत्ति में सुख नहीं। नीचे के देवों की अपेक्षा ऊपर के देवों में परिग्रह कम होता है परन्तु ज्ञान, कषाय का अभाव स्वरूप शान्ति अधिक अधिक होती जाती है इस पर से पता चलता है कि चारों गतियों में दुःख ही दुःख है। सुख तो आत्मा के असली रूप को प्राप्त करने में है—

चहुँगति दुख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं।
सव विधि संसार असारा, या में सुख नाहीं लगारा॥

देखो इस संसार में स्वर्ग का देव कुत्ता वन जाता है, कुत्ता स्वर्ग में देव वन जाता है, ब्राह्मण कीट वन जाता है इस प्रकार यह संसार की विडम्वना है। संसार में जीवों ने समस्त जीवों के साथ पिता, पुत्र, माता, पुत्री, स्त्री आदि सम्वन्ध पाये हैं। ऐसा कोई भी जीव या सम्वन्ध नहीं रहा जो इसने न पाया हो। तथा संसार में कोई ऐसा जीव भी नहीं जिससे इस संसार में भ्रमण करते हुए तेरी शत्रुता न हुई हो। इस संसार में माता मर कर पुत्री हो जाती है, वहन मरकर स्त्री हो जाती है, स्त्री मरकर पुत्री हो जाती है, पिता मरकर पुत्र हो जाता

हैं, वही मरकर पुत्र का पुत्र हो जाता है, इस प्रकार परिवर्तन होता रहता है। कहा भी है—

> श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्र दहनक्षार क्षुर व्याहतै-
> स्तिर्यक्षु श्रमदुःखपावकशिखा संभार भस्मीकृतैः।
> मानुष्येऽप्यतुल प्रयास वशगे-देवेषु रागोद्धतै-
> संसारेऽत्र दुरन्तदुर्गतिमये बम्भ्रम्यते प्राणिभिः॥

अर्थ—इस दुर्निवार दुर्गतिमय संसार में जीव निरन्तर भ्रमण करते हैं। नरकों में तो ये शूली, कुल्हाड़ी, घाणी, अग्नि, क्षार, जल, छुरा, कटारी, आदि से पीड़ा को प्राप्त होते हुए नाना प्रकार के दुःखों को भोगते हैं और तिर्यञ्चगति में अग्नि की शिखा के भार से भस्मरूप खेद और दुःख को पाते हैं। मनुष्यगति में भी अतुल्य खेद के वशीभूत होकर नाना प्रकार के दुःख भोगते हैं। देवगति में रागभाव से उद्धत होकर दुःख सहते हैं। अर्थात् चारों गति में दुःख ही दुःख पाते हैं, सुख कहीं भी नहीं है।

अतः इस प्रकार संसार के स्वरूप का विचार करें। इसकी नश्वरता व स्वार्थ के नग्न नृत्य का दर्शन करें तथा सत् स्वरूप ब्रह्मानन्द को प्राप्त करें। वही अमर बनाने वाला है। वही सच्चा सुख है। उसको प्राप्त करके फिर सांसारिक दुःख-सुख का साया भी नहीं पड़ सकता है। अतः ब्रह्म प्राप्त करके अविनश्वर पद को प्राप्त करें।

शरीर अपवित्र है

अहा हा ! हृदय में उमड़ता हुआ वह अमृत स्रोत कितना मधुर है। जिसने दिव्य आलोक में ज्ञान चक्षुओं के द्वारा सृष्टि की सत्यता व असत्यता को पहिचान लिया, वह ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है। जो प्रभु के चरणों के सानिध्य में पहुँच गया उसे जगत् का कोई भी पदार्थ पवित्र नहीं लगता है। छिः छिः क्या ये भी भोग्य पदार्थ हैं, नहीं नहीं, ये तो अत्यन्त अशुचि है। इन्हीं के भोग के कारण जगत् में भ्रमण करके अज्ञान अवस्था में बहुत दुःख उठाये, परन्तु भैय्या ! अब तो तू भी अपने घर में आ। अपने प्रभु को प्राप्त कर ले। एक अपने घर की सुध ले ले फिर भले जगत् में कहीं भी घूम आना। परन्तु अपने घर को जाने बिना तो बाहर जाकर भटकना ही होगा, स्व घर में न आ सकेगा। देख ! यहां समस्त विश्व की सम्पत्ति व सुख पड़ा हुआ है। उसका भोग कर। हे चेतन ! तू कहां जाता है ? विषयों में से सुख की कल्पना करना तो ऐसा है, जैसे आकाश में से आकाश पुष्प पकड़ना। परन्तु जिसको ब्रह्मानन्द का मधुर आस्वाद नहीं आया तब तक उसको वही विष्टा सदृश विषय प्रिय लगते हैं। जिस प्रकार एक सूअर विष्टा ही खाता है, उसको मिष्टान्न खाने को मिलते ही नहीं। ऐसी स्थिति में वह विष्टा ही खाना प्रिय समझता है और वही उसे प्रिय लगती है। उसी विष्टा को ही अपने शरीर पर पोतता रहता है। इसी प्रकार मनुष्य भी ब्रह्मानन्द को जानता नहीं है, इसी कारण विषयों को ही भोगता है, उसी को शरीर पर पोतता है। परन्तु सूअर तो बेचारा अज्ञानी है, जब कि मनुष्य में विचारण शक्ति है, विवेक व ज्ञान है, अतः मनुष्य तो अपनी गल्ती को सुधार सकता है। आज तुझे यह मानव भव, गुरू की कृपा भी प्राप्त है, यदि अब भी तुझे समझ न आई तो कब आयेगी। एक अन्धा कुएँ में गिरे तो इतना बुरा नहीं, परन्तु एक आंखों वाला व्यक्ति दीपक लेकर भी कुएँ में गिर जाये तो वह

महामूर्ख है। इसी प्रकार एक सूअर यदि शरीर से विष्टा लपेटता है तो इतनी बुरी बात नहीं, यदि एक विवेकवान मनुष्य विषय भोगों में उन्हें अशुचि जानकर भी आसक्ति करे तो बड़ी लज्जा की बात है। फिर तो मनुष्य जीवन ही उसका व्यर्थ हो गया।

हे चेतन ! आज का दिन, यह शुभ अवसर, यह विवेक व प्रकाश फिर न मिलेगा। सोच विचार छोड़ अपना कल्याण कर। सम्भल ! देख परमगुरू तुझे सम्बोध रहे हैं। उन्होंने उस परम अमृत को पा लिया, उनके हृदय में वह उछल रहा है, और वह फूटकर आज मानो बाहर आ रहा है। वे सभी संसारी जीवों को विषयों में फंसकर भयंकर दुःख सहता देखकर सिहर उठे हैं, उनके हृदय में करुणा उमड़ आई है, उसी में से उद्गार निकल पड़े हैं। मानो वे कह रहे हैं कि हे प्राणियों ! जरा यहां आओ। अपने प्रभु के पास। तुम्हारा प्रभु यहां है, अत्यन्त निकट। वह तो हृदय मन्दिर में, मन रूपी सिंहासन पर विराजमान रहता है। उसको पहिचानो ! परमात्मा की सच्ची जानकारी करो। वह कहीं बैठा डोर हिला रहा हो ऐसा नहीं है, वह तुम्हारे अन्दर है। उस प्रभु की शरण में पहुँचने पर ही रक्षा होगी। जगत् की कोई भी विरोधी शक्ति वहां नहीं पहुँच सकती। वहां जागतिक दुर्गन्धियों का भी प्रवेश नहीं। वहां पूर्ण निर्भयता व सुरक्षा है। आज तक तूने दुनियां का ज्ञान प्राप्त कर लिया, खूब साहित्य पढ़ डाले। नये-नये आविष्कार कर लिये परन्तु क्या जीवन में शान्ति आ पाई ? क्या उल्लास व हर्ष हुआ ? क्या पूर्ण विश्राम मिला ? चिन्ता ही चिन्ता। चिन्ता व तृष्णा के अतिरिक्त कुछ नहीं। आज एक आविष्कार आविष्कृत किया, कल को दूसरे की चिन्ता सदा सामने खड़ी रही। इस प्रकार नये-नये पदार्थों व साधनों का आविष्कार होता रहा। परन्तु क्या कहीं अन्त है इनका ? काश ! कि यदि एक परमात्मा का आविष्कार कर लिया होता, जिसके लिए कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है, जो कि आपके अत्यन्त निकट है उस परमात्मा को आविष्कृत कर लिया होता तो फिर किसी अन्य आविष्कार की आवश्यकता नहीं थी।

उसी में समस्त आविष्कारों की पूर्णाहुति हो जाती। अनन्त विश्राम मिल जाता। कृतकृत्यता प्राप्त हो जाती। समस्त भाग-दौड़ समाप्त हो जाती। क्या यह समस्त विज्ञान आज कोई नवीन वस्तु है? नहीं, ये तो सदा से यूं ही उत्पन्न होते रहे और विनष्ट होते रहे। जो विज्ञान की देन आज है वही महाभारत व रामायण के समय में भी थी। परन्तु जब-जब भौतिक विज्ञान की साधन सज्जा अधिक बढ़ जाती है तब-तब मानव के चित्त में अहंकार व द्वेष की ज्वाला भभका करती है। उससे संघर्ष होता है जिसकी ज्वाला में पड़कर विज्ञान अपने द्वारा ही अपना नाश कर लेता है। जिस प्रकार दो अरणियों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होकर सम्पूर्ण जंगल को विनष्ट कर देती है तथा स्वयं भी उसमें जलकर खाक हो जाती है फिर पृथ्वी पर शान्ति हो जाती है। कुछ काल पश्चात फिर कुछ जागृति आती है और फिर नये-नये आविष्कार आविष्कृत होते हैं। इस प्रकार सदा से चला आ रहा है। अव्यक्त में से व्यक्त की उत्पत्ति फिर व्यक्त का अव्यक्त में लीन होना चलता रहता है। जैसे समुद्र में से मगरमच्छ जल के ऊपर को आता है फिर उसी में लीन हो जाता है। समुद्र में जल की लहर उसी में से उत्पन्न होकर ऊपर आती है फिर उसी में लीन हो जाती है। इसी प्रकार सृष्टि में प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है, फिर उसी में लीन हो जाता है। इसी प्रकार चेतन में एक देह व विचार विकल्प उत्पन्न होता है और फिर उसी में लीन हो जाता है। इसी को सांख्य दर्शनकार प्रकृति का खेल कहते हैं। व्यक्त से अव्यक्त और अव्यक्त से व्यक्त होना ही जगत् का नाटक है। परन्तु जो इस व्यक्त अव्यक्त के खेल से ऊपर उठ जाता है वह परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

प्रभु व परमात्मा ही मेरे व हम सबके हृदय का देवता है। जो आनन्द उसकी प्राप्ति में है वह वाङ्मनसागोचर है। जब उसको नहीं जानेंगे, देह को ही आत्मा समझते रहेंगे तब तक सुख न होगा। तब तक जागतिक कष्ट सताते रहेंगे। उस अन्तरात्मा को जानो जिससे जगत् को जानना न पड़ेगा। फिर संसार में आना न पड़ेगा। न वहां कोई चिन्ता होगी, न कोई खेद। परन्तु ज्योंही यह जीव उस

प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है त्योंही विषय रूप चोर फिर आकर इसकी सम्पत्ति को लूट लेते हैं। मन कहता है चल विषय में, कैसे हो सकेगा ऐसे गुजारा ? जरा यह सुख तो और भोग लूं ? आदि-आदि बातें सामने रखकर हृदय को खींचता है, और अन्तरात्मा कहती है नहीं तू आ मेरे पास। दोनों में द्वन्द चलता है, घोर संग्राम होता है। जीत उसी की होती है जिसकी शक्ति अधिक होती है। कदाचित् प्रभु की तनिक अवहेलना की तो विष्टा का कीड़ा फिर उसी विष्टा में लिपटा जाता है। विष्ट में लथपथ होकर रहना ही उसको प्रिय लगता है तो बहुत अच्छा। रहे, इसमें किसी का क्या है परन्तु भैय्या ! अब तो गुरुओं की ओर से प्रकाश प्राप्त हो रहा है, अब तो कुछ कल्याण कर। इस देह व विषयों की विष्टा में पड़े हुए रत्न को पहिचान। उसको प्राप्त कर, तब यह देह भी पवित्र हो जायेगी अन्यथा यूं ही पचता रहेगा, मरता रहेगा, और यूं ही विषयों में फंसा कष्ट सहता रहेगा।

एक महात्मा थे। उन्होंने सर छुपाने के लिये कुटिया बनाई। पास ही जोहड़ था उसी की मिट्टी लेकर उसने एक छोटी सी कुटी का निर्माण किया। परन्तु उसकी छत इतनी कमजोर थी उसका विश्वास न था कि कब गिर जाये। वह ऊपर बरसात के पानी से चूती थी, स्थान-स्थान पर उसकी दिवारों में भी छिद्र थे। पानी व दुर्गन्धमय मिट्टी के संयोग से उसमें छोटे कृमि पड़ गए थे। गली व सड़ी वृक्ष की शाखाओं से वह कुटीर बांधी गई थी, इसलिये उसमें जान न थी। उस कुटिया के बीच में एक बड़ा नाला बहता था जिसमें से स्वच्छ जल आता था। परन्तु कुटिया के दूषित वातावरण से वह भी दुर्गन्धमय हो जाता था। दिवारों पर दुर्गन्धयुक्त पानी चूता रहता था। उस कुटिया में इतनी दुर्गन्ध थी कि कोई भी व्यक्ति वहां एक क्षण को भी ठहरना पसन्द व सहन न करेगा। उस कुटिया के बाहर बड़े मच्छर, भिर्र व ततैये थे। जहां महात्मा जी बाहर गये कि सभी चारों ओर से चिपट कर ऐसा काटते थे कि उनका शरीर लहूलुहान हो जाता था। इस प्रकार महात्मा का जीवन बड़ा कष्टमय व्यतीत हो रहा था। उनका वहां कोई सहायक व रक्षक भी न था।

परन्त जाते कहां व क्या करते ? वहीं रहते थे। एक दिन महात्मा का मन उस दुर्गन्ध-युक्त व जीर्ण कुटिया से तथा डांस-मच्छरों को असह्य वेदना सहते-सहते ऊव गया। उनके मन में एक प्रेरणा उत्पन्न हुई कि चलो कहीं ऐसे स्थान पर चलें जहां कि इन कष्टों से छुटकारा मिले तथा कुछ शान्ति प्राप्त हो। वह उस कुटिया तथा डांस मच्छरों के स्थान को छोड़कर चल दिये। खूब चले, खूब चले। चलते-चलते वह एक घने जंगल में प्रवेश कर गए जहां पर उनको शेर-चीतों की भयानक दहाड़ सुनाई दी। वह घवराये और सोचने लगे--अरे ! यह क्या हुआ ? इससे तो अच्छा वहीं था, यहां तो जान के भी लाले पड़ गये हैं। भगवान जाने कि वचूँगा भी कि नहीं। आदि-आदि विचारों से उसका हृदय दहल उठा परन्तु यहां से अन्यत्र जाने का मार्ग भी तो नहीं है। साहस किया और कुछ आगे वढ़े। चलते-चलते आखिर क्या देखते हैं, अरे ! यह तो फिर वही स्थान आ गया जहां से चले थे। यह क्या हुआ ? चले तो खूब परन्तु फिर यहीं क्यों ? यहाँ कैसे रहूँगा ? जी घवराता है। अव पुनः साहस करके चल।

अव फिर महात्मा पूर्व दिशा में गये, फिर पश्चिम में। चारों दिशाओं में गए। परन्तु कोई भी स्थान ऐसा न मिला जहां पर कि कुछ शान्ति से रहने को ठिकाना मिल जाये। अन्त में अरे! ये गुरु-राज तो सज्जन से दीखते हैं ? ये वता देंगे मुझे कुछ मार्ग ऐसा विचारकर उनके पास महात्मा जी गए। गुरू जी ने आश्वासन दिया और साथ चल दिये स्वयं भी। काफी दूर निकल गये। चलते-चलते वह गहन जंगल में पहुँच गये। हैं ? आगे तो कुछ मार्ग दिखाई देता नहीं। अरे ! गुरू जी भी गायव हो गये। अव क्या करूँ ? खाने को भी कुछ नहीं है। कैसे चलेगा ? आगे तो शून्य सा दिखाई देता है। अव तो फँस गए। रात पड़ गयी। डाकू आए और महात्मा को जी भरकर पीटा। हे भगवान ! वचाओ, क्या करूँ ? यह क्या जीवन है ? कैसे प्राप्त कर सकूँगा शान्ति। यहां भी दुःख ही दुःख है। अव मन में विचार आया है कि अव रोने व पीटने से क्या है ? चल साहस कर, आगे वढ़। वहाँ से जैसे तैसे प्राण वचाये और भागकर

खूब दूर पहुँच गए एक साधु की कुटिया पर। उस समय महात्मा का हृदय काँप रहा था। शरीर थककर चूर हो गया था। अतः साधु ने इस महात्मा को शरण दी। साथ ही आश्वासन भी। कुटिया में आकर व आश्वासन पाकर उसके हृदय में कुछ शान्ति हुई। परन्तु वह भयंकर समय अब भी डरा रहा था। वहाँ साधु ने उसको सन्मार्ग सुझाया तथा स्वयं भी उसके साथ चल दिये। अबकी बार गए वे उत्तर दिशा में हिमालय पर।

हिमालय पर चढ़ने में यद्यपि कठिनाई प्रतीत हो रही थी। अतः उन्होंने अपने साथ एक घोड़ा लिया। घोड़ा बड़ा चुलबुला था। शरीर तो उसका कृश था परन्तु बल बहुत था। वह पर्वत पर चढ़ता-चढ़ता मचलता जाता था। धीरे-धीरे चलने में भी उसके पाँव डगमगा रहे थे। कभी तो इतनी जोर से मचलता था कि ऐसा भय होता मानों पर्वत की इतनी ऊँचाई से अभी गिरे। परन्तु जैसे तैसे उसको पुचकार कर धीरे-धीरे घोड़े को चलाता था, क्योंकि उसके मन में भय था पृथ्वी पर गिरने का पिटने का। तथा कुटिया की दुर्गन्ध उसको विशाद युक्त बनाये जाती थी एवं डांस मच्छरों का दंश स्मरण करके ही उसके रोंगटे खड़े हो जाते थे। अतः वह साहस करके बढ़ा चला जा रहा था। कुछ ही दूर पहुँचकर एक भव्य महल आया। अहा! कितना सुन्दर है यह? यहां तो रहने वाले ये सभी बड़े घनिष्ट मित्र से दिखाई देते हैं। यहां तो रहकर बहुत सुख मिलेगा तथा खाने को भोजन भी। बस यहीं रहेंगे। और महात्मा पहुँच गए उस मन्दिर में। बहुत बड़ा दरवाजा था उसका। ठण्डी-ठण्डी हवा आ रही थी। बड़ा सुहावना समय तथा आकर्षक स्थान था। महात्मा जी वहाँ गए और एक सुन्दर आसन पर बैठ गए। तुरन्त भोजन आया, उसको खाया और नींद आने लगी। गुरुदेव ने कहा, बेटा! सोना मत जाग जाना। चलो, देर मत करो। रात हो जायेगी। यहां ठग बहुत हैं, यदि फँस गए तो जान बचानी भी असम्भव हो जायेगी। महात्मा जी बोले, बस, गुरु जी अभी चलता हूँ थोड़ी नींद ले लूं। थकावट उतर जायेगी। गुरु जी ने बहुत समझाया परन्तु महात्मा जी ने न सुनी और वह सो गए। थके हुए थे ही, ठण्डी हवा का स्पर्श पाते ही नींद आ गयी। नींद में इतने

बेसुध हुए कि उनको कुछ भी होश न रहा। रात्रि पड़ गयी। रात्रि का जब ठीक मध्याह्न आया तब वहाँ ठग आये और कहा अरे! कहाँ सो रहा है जाग। यहां सोया है आराम से, पता है यह ठगपुरी है। यूँ कहकर उसको उठाकर जोर से शिला पर देकर मारा। जिस प्रकार धोबी कपड़ा पीटकर धोता है उसी प्रकार बुरी तरह से उसको पटक कर मारा। जी भरकर पीटा तथा कचूमर निकाल दिया और पर्वत से नीचे पटक दिया उसको। उसके पास जो गुरुदत्त थोड़ा बहुत नाश्ता था वह भी छीन लिया। वह जाकर भूमि पर पड़ा। खूब रोया। परन्तु क्या बनता है? काश! गुरू जी की बात को मान लिया होता तो आज यह दुर्दशा न होती। अब तो सर उठाने की भी शक्ति नहीं है।

गुरू महान होता है। उसके हृदय में शिष्य का सदा कल्याण छिपा रहता है। अतः उन्होंने पर्वत पर से ही शिष्य को भूमि पर पड़े देखा। उनका हृदय रो पड़ा। करुणा से उमड़ आया। उन्होंने कहा कि बेटा मैंने तुझे पहले कहा था कि यहां सो मत। परन्तु तू न माना, आज उसका ही यह परिणाम तू भोग रहा है। परन्तु बेटा घबरा मत। चला आ उसी मार्ग से मेरे पीछे-पीछे। मैं तेरे साथ हूँ। गुरू की मधुर एवं अमृतमयी वाणी सुनकर कुछ साहस आया और उसने अपने को सम्भाला। धैर्य व साहस के साथ वह फिर उसी मार्ग से चढ़ा। अब भी धीरे-धीरे उस घोड़े के आश्रय से चढ़ रहा था। अब भी मार्ग में वही महल आया, परन्तु उस महल ने उसे पूर्व की स्मृति करा दी जिससे उसका हृदय काँप उठा और वह सतर्क हो गया। अब वह उसकी ओर बिना देखे चल दिया आगे। ज्यों-ज्यों आगे जाता है, त्यों-त्यों थकावट सी प्रतीत होती है। परन्तु घोड़े को सम्भाले गुरू के संकेतानुसार वह बढ़ता रहा। हैं! यहां तो कुछ भी नहीं है। शुष्क जंगल सा ही लग रहा है। वह महल तो अच्छा था, परन्तु उसमें तो पहले कितनी मार सही थी। अब क्या विचारता है? चलता रहा है गुरू के पग चिन्हों पर। और कुछ उपाय भी तो नहीं है इसके अतिरिक्त। चलते-चलते कभी ठोकर लगती थी, घोड़ा मचलता था, उसको सम्भालता था, सब कुछ सहता चला जा रहा था वह आगे-आगे।

वहुत दूर जाकर कुछ सुगन्धित पवन आई। अहा! ऐसी गन्ध तो पहले कभी न सूंघी। उस महल में भी नहीं थी. यह कहां से आ रही है? इसका तो स्पर्श भी कितना मधुर है। अवश्य ही यहां कोई रमणीय स्थान होगा। ऐसा विचार करते ही अव तो उसके मन में बड़ी उत्कण्ठा हुई आगे बढ़ने की। परन्तु घोड़ा…; अरे! तू भी जरा बल-पूर्वक व सम्भलकर चल। पहुँचा दे मुझे उस स्थान पर जहां से कि गन्ध आ रही है। अब तो आगे बढ़ता चला गया उस पवन की दिशा में, उसी दिशा में थे गुरू के पग चिन्ह भी। वाह! वाह! कितना भव्य स्थान है यह? यह वह सामने दिखाई देने वाला मन्दिर कितना रमणीक है। यह तो पहले नहीं देखा था कभी। यहां तो कुछ भी भय नहीं लग रहा है। यह स्थान तो मुझे जवरदस्ती खेंच रहा है अपनी ओर। चल भई घोड़े, तू यहीं रुक जा द्वार पर। क्योंकि तू अन्दर न जा सकेगा। इस नगरी का नाम ब्रह्मपुरी है। इस मन्दिर का नाम आनन्द मन्दिर है। इसका राजा है ब्रह्मदेव। इसके स्वामी की यही आज्ञा है। इसमें मेरा भी कुछ दोष नहीं है। यहीं खड़े रहना, जब वाहर आऊं तो तुम्हारी सुध लूंगा। यूं कहकर महात्मा उसके छोटे से द्वार में प्रविष्ट हुए। ओह! कितनी शान्त है आभा, वह सामने सिंहासन पर विराज-मान महात्मा की? कितनी प्रकाशमान है यह मूर्ति? सारे शरीर से प्रकाश की अद्भुत किरणें निकल रही हैं। कोटि-कोटि सूर्यो का भी इतना प्रकाश नहीं, जितना कि इस महाराजा का है। सारे दरबार को इसने अपनी दिव्य किरणों से चकाचौंध कर रखा है। परन्तु इसकी किरणें हैं कितनी शीतल जो चन्द्रमा की शीतलता को तिरस्कृत कर रही हैं। अहा! इनकी यह निराली छटा देखते ही भाती है। इनके दर्शन से मेरा जीवन सफल हो गया। मेरी सारी यात्रा सफल हो गयी। मुझे समस्त दुःख भूल गए। मैं कृतकृत्य हो गया। अहा! इनकी शोभा कहते नहीं बनती। आज मेरा रोम-रोम पुलकित हो गया, शरीर के रोंगटे खड़े हो गए। पसीने छूट गए। आज मेरे समस्त दुःख भाग गए। बस अब तो मैं यहीं रहूँगा। यहां को छोड़कर अब मैं कहीं भी जाना नहीं चाहता। कितना वैभव है इस महाराजा का। एक ओर मन्त्री खड़ा है, जिसका नाम है विवेक, एक विश्वास नाम का सेवक

हाथ जोड़े खड़ा है। एक अनुचर समता नामक पंखा झल रहा है। एक ओर स्वर्गलोग विभूति खड़ी है, एक तरफ इन्द्र का ऐश्वर्य हाथ जोड़ रहा है। एक-एक क्रम से क्षमा, सत्य, शौच आदि १० सेवक खड़े हैं एक ओर चक्रवर्ती का राज्य है, एक तरफ नागेन्द्र चरणों में बैठा है। यह देखो पितृ भक्ति, मातृ भक्ति, सेवक व पति भक्ति खड़ी है। अरे ! यहां तो सब एक से एक सम्पत्तियें पड़ी हैं, परन्तु सिंहासन पर विराजमान इस महात्मा के समक्ष सब फीके हैं। यहां ये सब सम्पत्तियें व विभूतियें फीकी लग रही हैं। क्या मुझे भी इन महापुरुष के चरण-स्पर्श का सौभाग्य मिलेगा ? इतना विचार ही रहा था कि बाहर खड़ा घोड़ा वहां से हिनहिनाने लगा। महात्मा ने कहा—अरे ठहर भी जा, इतनी दूर चलकर आया है, अभी तो मेरी थकावट भी नहीं उतरी है। जरा, इन महापुरुष से बात तो कर लेने दे। फिर क्या इतनी दूर आया जाता है। अब तक तेरी सेवा की है जरा अब इन प्रभु की सेवा करके तो देख लूं। इस प्रकार उसने घोड़े को समझाया। तब जो महात्मा को एक टक निहार रहा था, जो पूछना चाहता था उसकी अब कुछ इच्छा नहीं है क्योंकि जो प्राप्त करना चाहता था वह अब प्राप्त हो गया। परन्तु महाराजा ब्रह्मदेव की ओर पड़ती हुई अपलक दृष्टि ने महाराजा के हृदय में प्रेम व करुणा का संचार किया। एक भक्त को अति दीन अवस्था में आया देखकर उन्होंने उसको अपने पास बुलाया और अपने हाथ से उठाकर अपनी गोद में बिठा लिया। इस समय के आनन्द को कहना तो इस वाणी से अशक्त है। वह तो अनुभवनीय है। प्रभु की गोद में पहुँचने पर जगत् भूल गया। अब कुटिया में कौन जाये और घोड़े को कौन सुध ले ? बेचारा बिना चारे के तड़फ-तड़फ कर मर गया। कुटिया भी गिर गयी और वह गयी उसी जोहड़ में क्योंकि उसकी खबर लेने कौन आये ? महात्मा तो महाप्रभु बन गया है। उसको तो दिव्य मन्दिर मिल गया है।

यह हुई एक कथा जो बड़ी रोचक लगी। परन्तु भैय्या ! यह कोई किसी की कहानी नहीं है। यह तो मेरी मनघड़न्त बात है। यह हम सबके जीवन की कथा है। यह देह दुर्गन्धयुक्त कुटीर है जो कि संसार के समस्त दुर्गन्धित पदार्थों अर्थात् रक्त मज्जा व चाम से बनी है।

इसमें भी नाना प्रकार के कृमि हैं रोमावलि से पसेव के रूप में यह चूती रहती है। रोगों रूप छिद्रों से यह युक्त है। आयु रूप छत्र के आधीन है न मालूम कब गिर जावे। मुँह से मल द्वार तक इसमें एक नाला है, जिसमें स्वच्छ पदार्थ भी प्रवेश होकर विष्टा के रूप में दुर्गन्धित बनकर निकलता है। बाहर में होने वाले डांस-मच्छर व ततैये के स्थान पर कुटुम्बी वर्ग रात-दिन काटता रहता है। इससे दुखी होकर कोई सुख व शान्ति की कामना से बाहर सुख ढूंढने भी जाता है, तो खूब खोज करके भी प्राप्त नहीं कर पाता, अर्थात् बहुत सुनकर भी जीवन वहीं का वहीं रहता है। जैसे प्रतिदिन आप सुनते हैं। मैं कहूँ कि कल्याण करो, परन्तु जीवन वहीं का वहीं उससे सुनने से भी क्या लाभ। अथवा खूब त्याग किया अथवा तीर्थ घूमे परन्तु अन्तरंग जीवन वहीं का वहीं रहा। अतः उस त्याग से भी क्या लाभ हुआ। जीवन में शान्ति न आयी। फिर कदाचित् सद्गुरु की प्राप्ति भी हुई और मन रूप चुलबुले घोड़े पर बैठा आगे भी बढ़ा तो पुण्य के फल को प्राप्त करके विषय सुखेच्छा से उस महल में विश्राम किया। अर्थात् 'यह तो भोग लूं जरा,' ज्यों ही ऐसा विचार आया कि पाप रूप जंगल के भयंकर लुटेरों ने पुण्य की सम्पत्ति की अपेक्षा धरकर खूब मारा। विषयासक्त होकर नरकादि गति का पात्र बना। फिर कदाचित् सद्गुरु के पुनः उपदेश को प्राप्त करके जीवन में तत्व को खोजा भी तो प्रथम उसको पाप व पुण्य को त्यागने के विचार मात्र से शून्यता सी! प्रतीत हुई। परन्तु ज्यों-ज्यों अन्तरात्मा के निकट पहुँचता गया त्यों-त्यों मधुर शान्ति रूप सुगन्धि आती प्रतीत हुई। उसी से प्रेरित होकर और हृदय में घुसा पश्चात् ब्रह्मात्मा का द्वार आया। हृदय मन्दिर का द्वार छोटा है परन्तु उसमें घुसने पर ज्ञान का क्षेत्र विशाल है। मन की गति वहीं तक है। पश्चात् ब्रह्मात्मा के निकट पहुँचने पर मन की गति समाप्त हो जाती है। सिंहासन पर विराजमान होने वाला वह परमात्मा, अन्तरात्मा ही है अन्य कोई नहीं। मन्त्री ज्ञान है, भक्त श्रद्धा है, सेवक चरित्र है, क्षमादि सेवक गुण व शक्तियें हैं। तथा चक्रवर्ती आदि की विभूति सब उस प्रभु के चरणों की रज है। अर्थात् योगी के पीछे-पीछे रहा करती है। उस

परमात्मा के साथ तन्मय हो जाना ही उसकी गोद में पहुँचना है। यह इस प्रकार कथा हमें बताती है कि इस नव दुर्गन्ध धातुओं से निर्मित कुटी को छोड़कर उस परमात्मा को प्राप्त करो। वही सर्वेश्वर है। उसी के प्राप्त करने पर समस्त दुःख भाग जायेंगे। भगवान के पास न पहुँच सको तो कम से कम नाम नोट करा दो। ताकि कभी परमात्मा ही आपको याद करके बुला ले। क्योंकि नाम न लिखाओगे तो भगवान भी याद न कर सकेंगे। इसी को कहा है कि जो एक बार आत्मदर्शन कर लेता है फिर उसको अधिक समय संसार में नहीं रहना होता। अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल के भीतर-भीतर वह ब्रह्म बन जाता है। अतः मनरूपी घोड़े को साधकर उस परमात्मा के पास पहुंच जायें।

यह देह अत्यन्त अपवित्र है। सभी अपवित्र पदार्थों से इसका निर्माण हुआ है। सभी स्वच्छ पदार्थ भी इसके सम्पर्क से अपवित्र हो जाते हैं। एक विष्टा के घड़े को कितना भी फूलों से सजा दें तो क्या वह पवित्र हो सकता है? अर्थात् नहीं। यह विष्टा, मूत्र, रक्त आदि की थैली है। कहा भी है—

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तै मैली।
नव द्वार बहें घिनकारी, अस देह करे किम यारी॥

जब तक इस देह पर चाम लिपटा है तब तक इसकी सुन्दरता है। यदि इसके ऊपर से मक्खी के पंख के बराबर खाल उतार दी जावे तो मांस विष्ट के तुल्य इसको देखने को भी मन न करे। इस पर मक्खियें भिन-भिनायें। ऐसे मांस पिण्ड के तुल्य इस देह से प्यार करने में क्या है? समय पर चलते-चलते यह धोखा दे जाता है। लाखों रोगों का घर है। अतः इसका ममत्व छोड़ दें। इसका यह अर्थ नहीं कि इसको काट दिया जाये। काटकर फैंकने की बात नहीं है, न ही काटा जा सकता। इस देह को मोह व आसक्ति से सजाने के प्रति उदासीन होने की बात है। कितना ही आप इसको सजायें, इसके ऊपर उबटन मलें, पाउडर व क्रीम लगायें, सुन्दर वस्त्र पहनायें, परन्तु क्या इस ऊपर की सजावट से आत्मा की सन्तुष्टि हो सकती है? आत्मा को सजाइये, इसको अलंकृत कीजिये वही वास्तविक जीवन है। सनत्कुमार चक्रवर्ती

को देखकर देवलोक से आये देव ने राजशाही पोशाक को व्यर्थ बताया था। अखाड़े में देखे नग्न शरीर की प्रशंसा की थी।

देह रूप देवालय में बैठा वह देव यदि पहिचान जाये, यदि इसमें दीपक जल जाये; यदि इस सिंहासन पर परमात्मा आ जायें तो यह देह भी पूज्य हो जाये। यह पवित्र बन जाये, यह देह प्रभु का मन्दिर बन जाये। प्रभु का जगत् भी प्रभुमय दीखने लगे। जगत् भी ब्रह्ममय बन जाये, सृष्टि आनन्दमयी हो जाये। अतः देह की अपवित्रता को विचार कर आत्मा की पवित्रता को प्राप्त कर। इसकी अपवित्रता से आत्मा को अपवित्र मत करें अपितु आत्मा की पवित्रता से शरीर की पवित्रता करें। जलादि से आत्मा की पवित्रता नहीं हो सकती। ज्ञान, विवेक, विराग व संयमादि द्वारा शील रूप जल से ही इसकी पवित्रता होती है। अतः परमात्मा को प्राप्त करके इस मनुष्य भव को सफल बनायें।

मृत्यु में भी हँसो

एक बार यमराज एक मन्दिर में गया। वहां पर बैठे एक कबूतर को देखकर यमराज मुस्करा उठा। कबूतर सोचने लगा कि आज मेरे सौभाग्य का दिन है। यमराज मुझ पर प्रसन्न हैं। परन्तु वहां बैठे गरुड़ ने कबूतर से कहा कि इसमें प्रसन्न होने की क्या बात है। तुमने देखा नहीं कि वह हँसी कितनी कुटिलता भरी थी। कबूतर इस पर घबरा गया। उसने सोचा कि मेरी मौत आ गयी। गरुड़ ने उसे दिलासा देते हुए कहा कि मैं तुम्हें इतनी दूर छोड़ आऊंगा कि जहां यमराज भी न पहुंच सके। कबूतर गरुड़ की पीठ पर बैठ गया और गरुड़ उसे लेकर मन्दिर से बहुत दूर छोड़ आया। जब गरुड़ लौटकर आया तो यमराज उसी समय मन्दिर से निकले और मुस्करा उठे। गरुड़ ने पूछा कि यमराज आप क्यों मुस्कराये ? यमराज ने कहा कि जब मैं मन्दिर के अन्दर गया था तो यहां एक कबूतर बैठा था उसकी मृत्यु यहां नहीं थी बल्कि यहां से बहुत दूर एक जंगल में लिखी थी। मैं यह सोच रहा था कि यह कबूतर यहां से वहां कैसे पहुंचेगा। तुमने कबूतर को वहां पहुंचाकर मेरा काम आसान कर दिया। इस कथा का आशय यही है कि जिसकी मृत्यु जिस रूप में जहां होनी है वहां उसे कोई रोक नहीं सकता।

मनुष्य भी मृत्यु की ओर दौड़ा जा रहा है। कोई धीरे से जा रहा है तो कोई तेज़ी से जा रहा है। गरीब धीरे-धीरे चलता है अमीर तेजी से चलता है। परन्तु सब जा रहे हैं मृत्यु की ओर। कौन ऐसा व्यक्ति है जो यमराज के पाश से बचा हो। जब सबकी अन्तिम गति यही है तो फिर काहे के लिये इतना संग्रह ! काहे का रागरंग ?

श्मशान में बड़े-बड़े राजा महाराजा, बड़े-बड़े बलशाली सभी इसी धरती में समा गये। मौत का मुंह ऐसा है कि वह न गरीब को छोड़ता है और न अमीर को, न बलशाली को और न कमजोर को, न

वालक को और न वृद्ध को। जब सभी मौत की ओर जा रहे हैं तो हमारा सारा पुरुषार्थ व्यर्थ जा रहा है। एक ओर जागरण जीवन में लाइये, एक ओर पुरुषार्थ अपने जीवन में कीजिये जिसके समक्ष मृत्यु नाम की कोई चीज नहीं रह जायेगी। आप देखिये कि कहां पर जी रहे हैं? आप तो मृत्यु की दिशा में जा रहे हैं। आप मौत से बचने के लिये नाना प्रकार के साधन करते हैं परन्तु मौत का भय ही हमें मौत की दिशा में ले जा रहा है।

हम देखें कि जीवन क्या है! हम कौन हैं? जो जीवन पा लेता है उसकी मौत नहीं होती। उसे मृत्यु ऐसी ही प्रतीत होती है जैसे कोई पुराने घर को छोड़कर नये घर में आता है। गीता में भी कहा है कि जब वस्त्र मैला हो जाता है तो मनुष्य नया वस्त्र धारण करता है। इसी प्रकार जब यह शरीर जीर्ण हो जाता है तो यह आत्मा भी जीर्ण शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेती है। जो इस शरीर को देख रहा है वह मौत को देखता है। जो वस्त्रों से अलग अपने को देखता है उसे शरीर छोड़ने या वस्त्र उतारने में हर्ष होता है। यह समय मिला है जागरण के लिये। जो ऐसा विचार करता है कि मृत्यु इस शरीर की होती है मेरी नहीं वह शरीर छोड़ते समय भी हर्ष मनाता हैं पर यदि वह देह को छोड़ते समय शोक मनाता है तो उसने अपने आपको नहीं समझा।

जो वस्तु पैदा होती है वह नष्ट भी होगी: यह अवश्यम्भावी है। परन्तु आत्मा उत्पन्न नहीं होती अतः उसकी मृत्यु नहीं होती। महात्मा सुकरात को विष का प्याला पिलाया जाने वाला था। उसके मित्र सब खेद कर रहे थे कि अब क्या होगा? सुकरात मर जायेंगे। उनको कष्ट होगा। सुकरात ने कहा—आप लोग क्यों दुःख मना रहे हैं। मैंने जीवन का आनन्द लिया है अब मृत्यु का आनन्द लेना चाहता हूं कि वह क्या है? किस प्रकार आती है? सुकरात ने पूछा कि विष का प्याला लाने में इतनी देर क्यों? जब उन्होंने प्याला पी लिया तो उन्होंने बताया कि किस प्रकार मेरे शरीर के भिन्न अंगों से प्राण खिंच रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने बिना किसी कष्ट के मृत्यु का आनन्द लिया।

यदि किसी के कांटा चुभ जाये तो जब तक वह कांटा निकल नहीं जाता तब तक उसका ध्यान वहीं रहता है। इसी प्रकार जो शरीर को देखता है उसे मृत्यु का भय बना रहता है और मरते दम तक वह मरने की पीड़ा अनुभव किया करता है। जो जीवन देखता है उसे मृत्यु नहीं दिखाई देती अंतरंग में देखिये कि वह कौन है ? वह ज्ञाताद्रष्टा क्या है ? चौबीस घंटे निरन्तर अभ्यास करना होगा। जो ऐसा करता है उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। मैं कुछ और हूँ शरीर से अलग होने की क्रिया कुछ और है। जीवन का आनन्द तो मैंने ले लिया अब मृत्यु का आनन्द भी ले लूं।

जिस मृत्यु से आप भय खाते हैं क्या आपने उसे देखा है ? उसका स्वाद चखा हैं ? कभी नहो। फिर आप क्यों भय खाते हैं ? जिस प्रकार पुराने घर को छोड़कर नये घर जाने में शोक नहीं होता उसी प्रकार जो पुराने शरीर को छोड़ते समय अपनी सारी आत्म शक्तियों के साथ खुशी-खुशी नये शरीर में जाता है वह सुखी रहता है, उसे मौत का भय नहीं रहता। उसे मृत्यु के समय कुटुम्बीजनों का कोई मोह नहीं होता। वह समझता है कि मेरा जीवन मेरे साथ जा रहा है।

जब हम अपने जीवन को देखेंगे, उसे देखने का अभ्यास करेंगे तो मौत कोई भी चीज नहीं रह जायेगी। वह शोक का नहीं आनन्द का विषय बन जायेगी। ऋषियों ने इसे सल्लेखना कहा है। इसी को साधु समाधि कहा है। जो आधि, व्याधि तथा उपाधि से रहित होकर अपनी आत्मा की साधना करता है वही साधु समाधि कहलाती है।

मानसिक पीड़ा मृत्यु के समय उसे होती है जो शारीरिक स्तर पर रहते हैं। जो समुद्र की गहराई में रहता है उसे समुद्र की तरंगे दिखाई नहीं देतीं।

ये उपाधियां, ये जातियां यह सब ऊपरी हैं और इस शरीर के लिये बनाई गई हैं। जब धीरे-धीरे विचारणा के द्वारा आत्मा को देह से भिन्न जानने लगेंगे तो यह सब छूट जायेगा। आचार्यों ने कहा कि जो अन्त समय समाधि मरण करता है उसकी गति उत्तम होती है। परन्तु अंत समय में भी मति उसकी ही अच्छी होगी जिसने जीवन भर साधना की होगी। जिसने अभ्यास नहीं किया वह आत्म शक्तियों

के शरीर छोड़ते समय जो परिश्रम करना पड़ता है उससे घवराता है और चीखता चिल्लाता है।

जव मौत आती है तो कोई नहीं वचा सकता। भगवान के मन्दिर में हाथ जोड़ने से, मंत्रों के उच्चारण से, औषधि सेवन से मौत से नहीं वच सकते। यदि मौत से वचना है तो अपने अन्दर जागरण करो। मृत्यु तो एक महोत्सव है। जो विनाशी चीज है उसे क्या कोई मंत्र वचा सकता है? भगवान मौत से नहीं वचा सकता हां भगवान की प्रार्थना से भगवान के जीवन को देखकर अपने जीवन में हम भी जागृत हो सकते हैं। मौत हमारी आत्मा की नहीं आती। इस शरीर के अन्दर यदि कोई पीड़ा होती है तो वेचैन मत होइये। उसे एक क्रिया के रूप में देखिये। आपको कभी मानसिक व्याधि नहीं होगी।

जव शरीर में वुखार हो जाता है तो इस वुखार को आत्मा में नहीं चढ़ने देना चाहिये। वुखार आत्मा को नहीं होता वल्कि शरीर को होता है। जव आत्मा को वुखार हो जाता है तो वह औषधी से ठीक नहीं हो सकता, उसके लिये तो हमें विचारना चाहिये।

यह शरीर तो एक मशीन है। कभी-कभी विगड़ जाती है उसे विश्राम भी करना पड़ता है। पर जो इसमें आत्मा है उसकी क्रिया वरावर चलती रहती है। वह पीड़ा को जानता है। ऐसे में अपने धैर्य को नहीं खोना चाहिए। जव आप जीवन भर ऐसा अभ्यास करेंगे, अपनी पीड़ा को धैर्य से सहन करेंगे, अपने दैनिक जीवन में जो इस प्रकार जागृत रहता है वह मृत्यु को भी जीत लेता है। ऐसे ही अभ्यास को साधु समाधि कहते हैं।

अपने शरीर को कृष करना यह इसी का एक अंग है। कुछ लोग सल्लेखना को आत्महत्या कहते है। जैसे मशीन विगड़ जाती है और यदि ऐसी स्थिति में वह पहुँच जाये कि ठीक नहीं हो पाती हम उसे वदल देते हैं उसी प्रकार जव यह शरीर रूपी मशीन से काम लेना कठिन हो जाता है, हर काम में वह वाधा डालने लगता है तव शरीर से ममत्व हट जाता है। धीरे-धीरे शरीर की उपेक्षा करते जाते है और

अन्त में इस शरीर को सल्लेखना लेकर छोड़ देते हैं। यदि घर में आग लग जाये और इस शरीर को बचाना असम्भव हो जाये तो इस शरीर से ममत्व हटाकर सल्लेखना ले लेते हैं। जो व्यक्ति ऐसा करता है वह मरकर भी जीता है। यदि आप में पौरुष है तो मृत्यु को जीतिये और जीवन को पाइये। जिसने अपने को पा लिया उसने सब कुछ पा लिया।

———

चिन्ता चिता समान है

आज हमको सर्व सुख के साधन उपलब्ध हैं। आज रहने के लिये बड़े-बड़े बंगले, पहनने के लिये बढ़िया-बढ़िया बहु-संख्यक वस्त्र, खाने के लिये नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन, घूमने के लिये गाड़ियां, हैलीकोप्टर, विश्व को घर बैठे जानने के लिये रेडियो, समाचार पत्र व टैलीविजन, हज़ार मील की दूरी पर बैठे व्यक्ति से बात करने के लिए टैलीफोन व वायरलैस हैं। आज का विज्ञान बहुत आगे बढ़ गया है, आज ज्ञान का विकास बहुत हो गया है, आज जीवन का स्तर बहुत ऊंचा हो चुका है, आज बाह्य जीवन बहुत चमकदार हो गया है, जबकि हमारे पूर्वजों का जीवन इसकी अपेक्षा बड़ा सरल सा था, शरीर पर फटा एक मोटा सा वस्त्र, खाने को मक्खन व रोटी तथा रहने को घास की झोंपड़ी मात्र थी। आज का मानव इससे बहुत आगे पहुँच चुका है इसीसे वह जीवन आज मात्र कल्पना का विषय है। इतना सब कुछ हो जाने पर भी देखना तो यह है कि क्या जीवन में शान्ति आ पाई है ? क्या मानव रात को सुख की नींद सो पाया है? क्या वह अपने बच्चों, माता व पत्नी से हँसकर बोल पाया है ?

आज जीवन में शान्ति नहीं। बाह्य जीवन चमकदार व लुभावना बन जाने पर भी भीतर मन में चिन्ता रूपी घुन लगा है। प्रातः उठते ही ज्योंही पहियों पर जीवन प्रारम्भ होता है कि रात हो जाती है, न खाने की सुध है न पीने की, न गर्मी व सर्दी की। न हंसने को समय है न घर में रोगी को सान्त्वना देने का। न बच्चों से प्यार को अवकाश है न माता को सहानुभूति का। एकमात्र चिन्ता है धन की। जिस धन को सुख के लिये उपार्जित किया जाता है वही धन दुःख व चिन्ता का कारण बन रहा है। एक तरफ हाउस टैक्स की चिन्ता तो दूसरी तरफ सेल टैक्स का भूत सवार है। इधर आयकर है तो दूसरी तरफ जल व बिजली कर सवार है

और प्रौपर्टी टैक्स, आदि अनेकों प्रकार के टैक्सों की रोज मांग है। इधर घर में बच्चा बीमार है, उसकी पढ़ाई है, लड़की की शादो की चिन्तायें मन को बोझल बनाये जा रही हैं। और कहां तक कहा जाये चारों तरफ चिन्ता के कारणों के अतिरिक्त कुछ भी नजर नहीं आता। गृहस्थी में नाना प्रकार के झंझट जान को लगे हैं। मजे की बात यह है कि फिर भी इस गृहस्थ को अपने लिये सुखदायी मानते हैं। फिर भी इसमें रहना अपने लिए हितकर समझते हैं। और त्याग के जिस मार्ग में इस झंझट को अवकाश नहीं, जिसमें न किसी को आटे की चिन्ता है न नमक की। सदा निश्चिन्त मस्त जीवन व्यतीत किया जाता है उसको कष्टदायी कहा जाता है। इसी को छहढाला-कार ने भी कहा है—

आत्म हित हेतु विराग ज्ञान ते लखे आपको कष्टदान।
रोकी न चाह निज शक्ति खोय शिव रूप निराकुलता न जाये॥

भैय्या ! योगी जनों ने भी कहा है कि "तुम बड़े सुभट हो जो संसार से नहीं डरे, हमें तो संसार से डर लग गया।" अर्थात् अत्यन्त आश्चर्य है कि जिस गृहस्थ में इतने जंजाल व वेड़ियें हैं उस गृहस्थ में सभी लौकिक जन कैसे रहते हैं ? और फिर भी अपने को सुखी मानते हैं। क्या करें जब तक अमृत का स्वाद नहीं आता तब तक तो वही अच्छे लगेंगे, परन्तु एक बार जीवन का सच्चा रस आ जाने पर जो आज लुभावना व मोहक प्रतीत होता है कल वही शुष्क व निस्सार भासित होने लगेगा।

आज यह घर त्याग करके संन्यासी बन जाने को नहीं कहा जा रहा है, और कहने से बनेगा भी कौन ? आज घर में ही रहते जीवन का सच्चा सार व आनन्द प्राप्त करने की बात चलती है। धर्म यह नहीं कि जंगल में जाकर ही होगा। धर्म तो जहां बैठो वहीं करो, और तत्क्षण उसका फल आनन्द भोग लो। दुःख है चिन्ता। चिन्ता को त्याग दो तब ही सुख है। अतः निराकुलता ही सुख है और उसी को धर्म कहते हैं। चिन्ता हमारी अपनी भूल व भ्रान्ति है। यह अज्ञानता के कारण हमारी अपनी बनाई हुई है। इसका त्याग भी

हम स्वतन्त्रता से स्वतः कर सकते हैं। चिन्ता करने से ही हमारा वाह्य जीवन व भीतरी जीवन यह लोक व परलोक, व्यक्तिगत जीवन व व्यवहारिक जीवन सभी बिगड़ जाते हैं। यही हमारे जीवन में पनपकर उसको खोखला कर देती है। एक छोटी भी चिन्ता कालान्तर में आग की चिंगारी वत् भयंकर रूप धारण कर लिया करती है। देखिये इसका एक उदाहरण देती हूँ। कोई एक व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ है उसको उसके किसी सम्बन्धी वा मित्र ने अकस्मात कह दिया कि "भई! तुम तो बहुत कमजोर हो गए, देखना! तुम्हारी आंखों में तो पिलकाई सी छाई हुई है। डाक्टर को दिखाना, यह क्या हो गया तुम्हें?" आदि आदि। विश्वस्त मित्र की बात पर आस्था होने से मन में कुछ नहीं होकर भी कुछ हो गया। मार्ग में ही डाक्टर की दूकान पड़ी तो सोचा चलो दिखा लो, क्या बिगड़ता है। डाक्टर को दिखाया तो उसने भी कह दिया "हां! तुम्हारी आंखें पीली हैं। हो सकता है पेट में कैन्सर हो। एक्सरे कराना पड़ेगा।" हैं! कैन्सर? ये दो शब्द कान में गूंज गए। घर आया और कुछ मुख पर उदासी लिये बैठा रहा। वही दो शब्द पुनः पुनः मस्तिष्क में चक्कर लगाकर चले जाते। माता व पत्नी ने भी आकर देखा कि हंसते बोलते गया था यह क्या हो गया? पुनः पुनः पूछा जाने पर मुंह से वही दो शब्द निकल पड़े। माता व पत्नी भी सहम गई। अरे! इसका तो कोई इलाज भी नहीं है। किस्मत फूट गई। यह बला कहां से आ पड़ी। सारा घर का भार इस पर है, कैसे चलेगा? घर बरबाद हो गया आदि-आदि शब्द कहकर रोने लगी। सारा परिवार इकट्ठा हो गया, सम्बन्धियों और टेलीफोन व तारों की झड़ी लग गई। सभी बारी-बारी से आकर पूछने लगे। सारा वातावरण ऐसा बन गया कि वह कैन्सर शब्द को कानों में जोर से गुञ्जाने लगा। पूर्ण स्वस्थ शरीर की स्थिति दो दिन में ऐसी हो गई कि चारपाई से नीचे पांव उतारने की सामर्थ्य न रही। इसने सबको दिखाई दिया कि हां डाक्टर ने सच कहा है, देखो! कितनी तेजी से रोग बढ़ गया। दो दिन में क्या से क्या हालत हो गई? अरे भैया! हालत बिगड़ी नहीं है अपितु बिगाड़ी गई है और एक सप्ताह पश्चात सब मित्र,

सम्बन्धी आदि के जुड़ जाने पर एक्सरे हुआ तो कुछ असर आयेगा ही। उसके कुछ संशयजनक परिणाम को सुनकर चिन्ता का भूत और सवार हो गया और एक दिन मरणासन्न अवस्था हो गई। मन विगड़ गया, शरीर विगड़ गया और व्यापार भी ठप्प हो गया।

देखिये, एक साधारण सी चिन्ता ने कैसे जीवन विनष्ट कर दिया। वस धर्म कहता है, कि चिन्ता क्यों करें। जो होना है हो जायेगा। तेरी चिन्ता करने से क्या वनेगा? बीमार होता है तो कोई वात नहीं, लेट जाना। तव भी प्रभु का स्मरण चलता रहेगा। शरीर की पीड़ा है जान ली। व्याकुलता की इसमें क्या वात है? व्याकुलता करके मैं जीवन का घात क्यों करूं। वास्तविक रोग तो मेरी चिन्ता है। उसको न करूँ तो चारपाई पर लेटने में भी प्रसन्नता है और दुकान पर वैठ कर काम करने में भी। प्रसन्नचित्त व्यक्ति अपने शरीर को स्वस्थ वनाता है अर्थात् कल्पना करो कि किसी को असाध्य रोग हो गया, वह चिन्ता नहीं करता तो उसको पीड़ा कम महसूस होगी, वह प्रसन्न रहेगा उससे उसका रोग पनपने न पायेगा। इसी से रोगी के मन को प्रसन्न रखने के लिये उसको मनोरञ्जक उपन्यास, कथायें व चित्र, खिलौने दिये जाते हैं तथा उसके सामने मन वहलाने वाली ही वातें कहने को कहा जाता है। मन की प्रसन्नता से उसका रोग शीघ्र उन्मूलित हो जाता है। हँसमुख व्यक्ति ही व्यापार में सफलता प्राप्त करता है, प्रसन्न मन मनुष्य ही घर में, मित्रों व सम्वन्धियों तथा समाज एवं सोसाईटियों में प्रेम का भाजन वनता है। वही सर्वत्र सम्मान पाता है। अर्थात् वह शरीर, मन, समाज व अर्थ सर्वतः सफलता का सेहरा वांधता है। अतः चिन्ता त्यागना ही धर्म है।

चिन्ता का त्याग करने में कोई तपस्या करनी नहीं पड़ती। कुछ उछल कूद नहीं करनी पड़ती। जव चाहे तव त्याग कर दे। घवराने की वात नहीं है। घर में रहते ही इसका त्याग सम्भव है। "अरे! यह तो वड़ी कठिन है? गृहस्थी में और चिन्ता न हो? यह तो असम्भव है।" भैय्या! घवरा मत। गृहस्थी में ही इसका त्याग सम्भव है। पहले पूर्वजों ने इसका त्याग किया है। सम्भव मार्ग ही वताया जा रहा है। परन्तु आज तक किया नहीं इसलिये कठिन लग रहा है।

मार्ग प्रारम्भ कर देने पर कठिन न लगेगा। देख! एक समय एक सेठ तांगे में बैठा जा रहा था। ताँगे वाले ने उनसे पूछा कि 'सेठ जी! आप तो बड़े कमजोर दिखाई दे रहे हैं, इसका कारण क्या है?" सेठ जी ने उत्तर दिया कि भैय्या! दो लड़कियां घर में जवान बैठी हैं। एक-एक लाख शादी में लगाना चाहता हूँ। परन्तु कोई योग्य वर नहीं मिल पा रहा है। ४० वर्ष का होने को आया। शरीर जीर्ण हो चला। ५० वर्ष का तो बूढ़ा ही हो जाता है। सारे सर के बाल सफेद हो गए। रात दिन यही चिन्ता रहती है कि अपनी जिन्दगी में इन दोनों के हाथ पीले कर दूँ। तांगे वाला उस सेठ के वाक्य सुनकर धक से रह गया। उसने उत्तर दिया कि 'सेठ जी! आपके तो करोड़ों की माया है, केवल दो लड़कियों की चिन्ता ने आपको ४० वर्ष में बूढ़ा बना दिया जिससे आप मृत्यु की घड़ियें गिनते ताँगे के आधीन बने हैं। मुझे देखिये, मैं ताँगा चलाता हूँ, पैसा पास नहीं। घरमें सात लड़कियाँ हैं, ८० वर्ष का होने को आया हूँ और अब भी आप जैसे दो को कन्धे पर बैठाकर ४ मील चल सकता हूँ क्योंकि मैं समझता हूँ, मैं अपने योग्य परिश्रम कर रहा हूँ। जो जो प्राणी इस पृथ्वी पर आता है प्रत्येक अपना भाग्य अपने साथ लाता है। मैं चिन्ता क्यों करूँ? अत: मैं मस्त रहता हूँ।' तात्पर्य यह है कि घर में भी जो केवल कर्तव्य कर्म करता है परन्तु चिन्ता नहीं करता वही सुखी रहता है ऐसा उस तांगे वाले ने सिद्ध करके दिखा दिया। बताइये चिन्ता करने से होता भी क्या है। आप कीजिये कि "यदि धन न हुआ तो क्या होगा।" ऐसी चिन्ता करने से धन न आयेगा। अपितु उपरोक्त प्रकार से धन चला ही जायेगा। अगर चिन्ता करने से धन आता हो तो खूब चिन्ता कीजिये। परन्तु भैय्या! चिन्ता त्याग कर पुरुषार्थ करने से धन आयेगा। अत: चिन्ता त्यागो। यह पाप है, अधर्म है।

मानव यह झूठा अहंकार करता है कि "मैं कुटुम्ब का पालन करता हूँ, मैं इसकी रक्षा करता हूँ" आदि। यही अहंकार अज्ञान है तथा इसकी चिन्ता का कारण है। वास्तव में प्रत्येक प्राणी अपने-अपने भाग्य से सुरक्षित है। किसी को निमित्त बनाकर ही भाग्य प्रगट हुआ करता है, इससे उस नैमित्तिक व्यक्ति को श्रेय मिल जाया

करता है। उसकी तरफ का द्वार वन्द हो जाने पर दूसरे निमित्त का द्वार खुल जाया करता है, जिस प्रकार पानी के निकलने का एक द्वार वन्द कर देने पर वह दूसरा द्वार स्वयं खोल लिया करता है। इससे नैमित्तिक व्यक्ति को अहंकार करना व्यर्थ है। एक बालक वचाते-वचाते भी गिरकर मर जाता है वहाँ अहंकार को मुँह की खानी पड़ती है। इसका यह अर्थ नहीं कि कुटुम्ब का पोषण न किया जाय वल्कि प्रयोजन है अहंकार के त्याग का। देखो इसी पर एक दृष्टान्त देती हूँ। इससे पता लगेगा कि मानवीय अहंकार कितना झूंठा है।

एक फेरी वाला था। नित्य फेरी लगाकर छोटी-छोटी वस्तुयें वेचकर अपनी आजीविका किया करता था। जब फेरी लगाने जाता था तव मार्ग में एक साधु की कुटिया पड़ती थी। समय की बात वह नित्य उपदेश के समय वहीं पहुंच जाता और उपदेश सुना करता था। धीरे-धीरे करके उसका मन पसीजता गया और एक दिन महात्मा से कह वैठा कि "भगवन! क्या करूँ, छोटे-छोटे वच्चे पीछे लगे हैं अन्यथा तो आपकी शरण में आकर आत्म कल्याण करता।" महात्मा ने भव्य जानकर कहा कि सब अपने-अपने भाग्य को लेकर आते हैं, कोई किसी का कुछ नहीं करता।" परन्तु इतने वाक्य से उसको सन्तोष कैसे होता! गुरू ने कहा कि तू कुछ समय के लिये मेरे पास आजा फिर तुझे इस रहस्य का ज्ञान होगा। गुरू का आदेश सुनकर उसने मन में सोचा कि चलो प्रयोग करके देख तो लें। घर गया और जाकर पत्नी से कहा कि "इस गांव में ग्राहक कम रह गये, और मैं आज दूसरे गांव को जा रहा हूँ। और कुछ समय पश्चात लौटूंगा।" पत्नी ने भी समझा कि अच्छा है दूसरे गांव से भी अधिक पैसा कमाकर लायेंगे। तव हम सुख से रहेंगे। इतने तक हम गुजारा कर लेंगे। वस फेरी वाला सीधा पहुँच गया कुटिया पर। दो दिन के पश्चात गुरू ने किसी शिष्य के हाथ उसके घर पर कहलवा दिया कि "उसको दूसरे गांव को जाते समय मार्ग के जगल में शेर ने मारकर खा लिया है।" इतना वाक्य सुनते ही घर में करुण-क्रन्दन होने लगा। वच्चे विलविलाने लगे। पड़ोसी भी दया खाने लगे। मानों आकाश फट गया हो, पृथ्वी हिल गई हो, मुसीवतों का पहाड़ टूट पड़ा हो। दस दिन रो धोकर

मन के खूब अरमान निकाल लिये। तेरहवें दिन क्रिया-कर्म करके शान्त हो गए। अब पड़ौसियों ने दया करके बच्चों को अपनी-अपनी हलवाई की दुकान पर रख लिया। माता उनकी दूसरों के बर्तन मांजती। रात्रि को सूत कात लेती। तीनों की रोटी कपड़ा तो वहीं से पूरा पड़ जाता और नौकरी का रुपया जमा होने लगा। तीन वर्ष में बच्चे बड़े हो गए। पैसा जमा हो गया। उससे दोनों बच्चों ने एक छोटी दुकान खोल ली। दुकान चल निकली। घर में खूब आनन्द हो चला। तब एक दिन उस फेरी वाले को सूझी घर चलकर देखना चाहिये कि क्या स्थिति है? वह रात्रि के समय घर गया और दरवाजा खटखटाया। परन्तु भीतर से आवाज आई कि कौन? उसने बताया "मैं तुम्हारा पिता हूँ। मैं मरा नहीं था। झूठ तुम्हें बहका दिया गया था।" परंतु प्रत्युत्तर मिला "अरे! भाग जा यहां से, भूत आया है, भूत।" उसने फिर कहा "नहीं बेटा! मैं भूत नहीं हूँ मैं जीवित हूँ। और तुम्हारी सुध लेने आया हूँ। कैसे तुम्हारा जीवन चल रहा है।" परन्तु वहाँ से उत्तर आया "जा! जा! हमें तेरी आवश्यकता नहीं है। तेरे राज्य में तो हम भूखों मरते थे, अब हम सुख की नींद सो रहे हैं।" तब उस जिज्ञासु की आंखें खुलीं कि प्रत्येक प्राणी अपने-अपने भाग्य का खाता है।

इस अहंकार को त्याग कर केवल कर्तव्य कर्म करना ही धर्म है। धन कमाइये, बच्चों को योग्य बनाइये, गृहस्थी का पालन कीजिये! परन्तु अहंकार व चिन्ता त्याग दीजिये। यही पाप है, अधर्म, अज्ञान है, अशान्ति व दुःख है। चिन्ता व अहंकार त्याग कर कर्म करना ही निष्काम योग है। वही तपस्या है, धर्म है, शान्ति व आनन्द है। बताइये चिन्ता त्यागने से गृहस्थी में क्या कमी आयेगी? अपितु गृहस्थी स्वर्ग बन जायेगी। नन्दन-कानन बन जायेगी।

क्रोध को जीतो

जो हृदय की गहन गुफा में स्थित उस महाप्रभु के दर्शन से कृत-कृत्य हुआ जा रहा है, जो अन्तरंग में सदा गुप्त रहता है, जिसको वाह्य जगत् की सुध नहीं है, जो सदा अन्तर्प्रभु के साथ किल्लोलें करता है, जिसके मन की वासनाओं का निर्मूलन हो चुका है, जिसके हृदय चक्षु खुल चुके हैं, तथा उसके द्वारा जिसने समस्त तत्वों का सत्य निरीक्षण कर लिया है, जो सब जगत् को ब्रह्म के रूप में देखता है, जिसको वाह्य शरीर व कषायमल दिखाई ही नहीं देता, जो सदा आत्मनिष्ठ रहता है, जिसके शरीर होते हुए भी कुछ महसूस नहीं होता, जिसकी आंखें होते हुए भी वाह्य रूपों को देख नहीं पातीं, जिस के कान होते हुए भी कुछ सुन नहीं पाते, जो सदा दिव्य अमृत के पान से तृप्त रहता है वही वास्तव में क्षमा स्वभावी है। उसको क्षमा भी क्या कहें उसे क्रोध का प्रश्न ही नहीं, वह तो आत्मा का सहज स्वभाव है। उसे द्वैत भासता ही नहीं अत: क्रोध किस पर करे?

जो कोई अपनी चिद्विभूति को ठुकराकर पर-पदार्थों में अपनी महिमा को देखता है, अपने चेतन स्वभाव को भूलकर जड़-विकल्पों में सन्तप्त रहता है, जो हृदयप्रभु को ठुकराकर अर्थात् चेतन की मांग की अवहेलना करके मन को वाह्य धन या विकल्पों से तृप्त करने का उपक्रम करता है, आत्मा को व्यर्थ चिन्ताओं से जलाता है वह उस का अपनी आत्मा के प्रति अनन्ता क्रोध है। वह ही संसार है। परन्तु जो योगी अपनी आत्मा को विकल्प से अतीत सहजानन्द से तृप्त रखता है वही आत्मा के एवं परमात्मा के प्रति क्षमा है। जो परमात्मा पर क्रोध करता है उसका संसार के प्रति क्रोध है। अपने पर क्रोध सो जगत् पर क्रोध, अपने पर क्षमा सो जगत् पर क्षमा। स्व क्षमा ही उत्तम क्षमा है।

उत्तम क्षमा का प्रकरण है—साधारण क्षमा का नहीं। यह उत्तम क्षमा योगियों को ही होती है। यद्यपि गृहस्थों को भी अपने योग्य

उत्तम क्षमा होती है वह भी अपने क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट है, उसको गृहस्थ की क्षमा के प्रकरण में ही बताया जायेगा। वास्तव में तो उत्तम विशेषण योगी की उपरोक्त क्षमा के लिये ही उपयुक्त है। ऐसी क्षमा भले वर्तमान में धारण न की जा सके परन्तु आदर्श की भावना तथा वैसा बनने का पुरुषार्थ तो करना चाहिये। एक दिन अवश्य वैसी उत्तम स्थिति भी प्राप्त हो जायेगी।

ऐसे ध्यानस्थ योगी को बाह्य जगत् की कुछ सुध ही नहीं है तो कोई उनको गाली दे, मारे अथवा प्राण हरण करे अथवा अन्य प्रकार से पीड़ित करे, ऐसे समय वह सदा आत्म-स्थित रहते हैं अतः क्रोध कौन व किस पर करे? क्योंकि क्रोध करने वाला तो शरीर में न होकर आत्मा में है, और आत्म स्थित योगी को न अपना शरीर दीखता है न घातक का। उसको तो प्रत्यक्ष चैतन्य प्रभु दीख रहे हैं। यह तो सर्वोत्कृष्ट समता वा क्षमा है। परन्तु यदि कदाचित् किसी को स्थिरता की कमी के कारण शरीर को काटे, मारे वा पीड़ित किये जाने की पीड़ा महसूस होवे तो तब वह विचार करता है कि "अरे! यह तो बेचारा अज्ञानी है, यह मुझको जानता ही नहीं। शरीर को जानता है, शरीर मेरा है नहीं। इस खिलौने से खेलता रहे, इससे मेरा क्या? इसका मेरी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं। यह तो टूट जायेगा तो और मिल जायेगा। न मिले तो सबसे अच्छा है। इसके घात से मैं अपनी शान्ति का घात क्यों करूं? यदि मैं शोक व क्रोध करूं तो सबसे अपराधी तो न होऊँ?" ऐसा विचार करके आत्म स्थित होने का प्रयत्न करता है। जैसे गजकुमार मुनि के सर पर अंगीठी जलाई गई, सुकुमाल के शरीर को शेरनी ने भक्षण किया तब उन्होंने इस प्रकार आत्म स्वरूप मनस्थित होने का प्रयत्न किया। यह उनकी उत्तम क्षमा थी।

यदि कोई अपशब्द कहे तो वह उनको विचार करते नहीं, सुनते ही नहीं। "कह रहा होगा जो उसको अच्छा लगे। लोक में अनेकों शब्द वर्गणायें हैं, उनमें से यह भी एक है। इनमें मैं दुखी क्यों होऊँ? यदि मैं दुखी होऊँ तो सबसे बड़ा अपराधी तो मैं ही हूँ। वह शब्द मुझे चिपट नहीं गया। बताइये उससे मेरी क्या हानि हो गई? बेचारा

ठीक ही तो कह रहा है। मेरे हुए दोष ही तो कह रहा है, अतः यह तो मेरा अत्यन्त उपकारी है, जो मुझे साधना के प्रति जागरूक कर रहा है अथवा इसको तो क्रोध रूप भूत चढ़ा हुआ है अतः यह तो दया का पात्र है" ऐसा विचार कर उससे प्रेम करता है। क्रोध नहीं करता।

एक समय महात्मा बुद्ध को चोर खूब गालियां देने लगा। महात्मा जी चुपचाप सुनते रहे। जव वह दो घण्टे तक गाली देकर थक गया तव महात्मा जी ने पूछा "भैय्या! मैं तुमसे एक बात पूछूँ यदि तुम किसी को कोई चीज दो और वह न ले तो वह चीज किसकी?" चोर ने उत्तर दिया कि "इसमें पूछने की क्या वात है स्पष्ट ही है कि देने वाले की।" तव महात्मा जी ने कहा कि "बस तुमने मुझे गाली दी और मैंने नहीं ली। यदि मैं गाली मानूं तो मैं क्रोध करूं। मैंने स्वीकार ही नहीं करी"। इससे चोर की आँखें खुल गईं।

जहां पर निन्दक वा घातकपना दिखता ही नहीं, वहाँ विशुद्ध आत्म-दर्शन होता है, वहां उत्तम क्षमा है। जहां पर "मैं क्षमा कर दूं, यह दोषी है" ऐसा विकल्प है उसे उत्तम क्षमा नहीं कहते हैं। एक ओर शत्रुत्व और दूसरी ओर क्षमा ये दोनों चीजें एक साथ नहीं रहतीं। वहां नीचे प्रकार की क्षमा है। जहां शत्रुत्व है ही नहीं प्रेम है, वहीं उत्तम क्षमा है। साधु जनों को ऐसी ही उत्तम क्षमा होती है। जिस प्रकार राजा श्रेणिक ने उन महात्मा के गले में सर्प डाला और रानी चेलना ने उसका निवारण किया, परन्तु महात्मा ने दोनों को समान आशीर्वाद दिया। वहां यह भाव नहीं था कि मैं इस राजा को क्षमा कर दूँ। वहां उन योगी को दोनों में कोई भेद नहीं दिखाई दे रहा था। दोनों ब्रह्म प्रेम एवं कल्याण के पात्र थे। दोनों प्रभु हैं। तनिक भी अन्तर नहीं। "मेरा नहीं अपना तो अपराधी होगा, ऐसा भी जहां दिखाई नहीं देता" उसको उत्तम क्षमा कहते हैं। योगियों की दृष्टि कितनी विचित्र होती है। धन्य हैं जो सदा रत्न ही खोजते हैं, काँच नहीं। वही सदा अपनी समता पियूष का पान करके तृप्त रहते हैं। जगत् से अस्पर्श चैतन्य

लोक में वास करते हैं। वे योगी उस क्षमा के द्वारा ही अज्ञान का विनाश करके परम गति को प्राप्त करते हैं। कहा भी है—

इय उत्तम खम जुय णर-सुर-खग-जुय केवलणाण लहेवि चिरु।
हुय सिद्ध णिरंजणु भव दुह भंजणु अगणिय रिसि पुङ्गव जि चिरु॥

अर्थ—इस प्रकार उत्तम क्षमा से युक्त मनुष्य, देव और विद्याधरों से वन्दित तथा भव-दुःख का नाश करने वाले अगणित ऋषिपुङ्गव अविनश्वर केवल ज्ञान को प्राप्त कर कर्मकलंक से रहित हो सिद्ध हो गये हैं।

———

ब्रह्म में लीनता

अहा हा ! कितना मधुर है यह ब्रह्मानन्द, कितना तृप्तिकर है यह । इसकी एक बूंद ही समस्त संतापों को शान्त कर देती है । जो अपने हृदय के गहन स्रोत में उतरकर इस अमृत को चख रहा है, जो उस ब्रह्मस्रोत में डुबकी लगा रहा है, जो उसकी तेजोमयी मूर्ति को देख रहा है, जो उस ब्रह्म के दिव्य नाद की झंकार सुन रहा है, जिसकी जिह्वा उसी अमृत का आस्वादन करके तृप्त हुई जा रही है, जिसका शरीर उसके दिव्य जल में स्नान करके अपने मल को धो रहा है वह जीवित रहते ही अमर हो गया । अरे ! कितना मधुर है यह आनन्द, जहां जगत् की समस्त कलकलाहट समाप्त हो गई है । जहां मैं-तू के विद्वेषकारी द्वन्द भाव नहीं हैं, जहां पर अच्छे-बुरे व मिलाने-हटाने के समस्त विकल्प अपनी सत्ता ही खो बैठे हैं न मालूम सबके सब कहां बैठे हैं ? जिस प्रकार शेर के आने पर गीदड़ टोली भाग जाती है इसी प्रकार समस्त सांसारिक जन्जाल एकदम दुम दबाकर भाग गये हैं । क्या ही महिमा है इस ब्रह्मानन्द की । अहा हा ! हृदय खिल उठता है, उसकी स्मृति मात्र से मन झूम जाता है, मन में एक दिव्य तेज का उदय होता है । यह तुच्छ जिह्वा उसका गुणगान करने में असमर्थ है । कहाँ तक कही जावे उसके स्वाद की महिमा । ये शब्द बेचारे क्या उसके स्वाद को स्पर्श कर सकते हैं ? क्या शब्दों से पेट भर सकता है ? अरे ! जगत् के जीवों एक बार चखकर तो देखो उसको । कितना शान्ति प्रदायक है । यह विषय की विष्टा को एक बार छोड़ो । जरा यहां तो आओ, कहाँ पड़े सो रहे हो ? इसकी बूंद ही चख लो कितनी आनन्द देने वाली है । जब उसकी बात ही हृदय के तारों को हिला देती है, मनुष्य उसकी स्मृति में ही आनन्द की हिलोरें लेने लगता है, यदि एक बार चख लोगे तो अन्तर्संताप समाप्त हो जायेगा । समस्त अज्ञानजनित भय भाग जायेगा । अतः केवल एक बार उसका

रसास्वादन कर लो। यदि अच्छा न लगे तो छोड़ देना, तब तुम्हें इसको पीने के लिए नहीं कहा जायेगा। परन्तु इतना विश्वास है कि सारे को पिए बिना न छोड़ोगे। वह अत्यन्त आल्हादप्रद लगेगा। जब तक पिया नहीं तब तक वह कठिन लगता है। तभी तक नाक सिकोड़कर जाते हो, कहते हो कि यह बड़ा कठिन है। परन्तु भैय्या! अपनी ही चीज है अच्छी क्यों न लगेगी। अपना ही स्वभाव है। कहीं दूर नहीं। अपने ही पास है। अपने अन्तर्हृदय में उस अमृत का सागर ठाठें मार रहा है। जब चाहें व जितना चाहें पियो और डुबकी लगाओ। जैसे कहावत भी है कि "अपना हुक्का, अपनी मरोड़. पिया-पिया, नहीं दिया फोड़।" इसी प्रकार अपनी चीज जब चाहे पी लो इसमें किसी से मांगकर तो नहीं लानी है। न पीना चाहो तो न पियो। अरे! अपने उस दिव्य अमृत को छोड़कर, ब्रह्मानन्द को भुलाकर कहां विषय विष में फँसे हो। आओ इसको चखो, इसकी एक किरण ही शरीर में रोमांच लाती है, आँखों में जल व हृदय में आल्हाद लाती है।

जगत् के समस्त जीव विषय में फंसे हैं। वे जो इससे विमुख होना चाहते हैं उनको भी अपने रंग में फंसा लेना चाहता है। पहले बताया था कि उस ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का सहज उपाय है बाल ब्रह्मचर्य। परन्तु यदि वह न हो तो स्वपति वा पत्नी सन्तोषी बनकर संयम की साधना करें। परन्तु इतना हो जाने पर भी अनादि के पुष्ट संस्कार इसको अपनी ओर खेंचते हैं। इधर प्रकाश की एक छोटी सी कणिका और उधर अनादि की संचित वह अनन्त संस्कार राशि, इन दोनों का परस्पर में युद्ध होता है। जिसका बल अधिक होता है उसी की विजय हो जाती है। ब्रह्मानन्द के प्रकाश की एक बूंद तो अपनी ओर लालायित करती है परन्तु संस्कार कहते है अरे! अब तक तू हमको पुष्ट करता आया है तब तुझे क्या हो गया। अब तू अपनी मनमानी करने लग गया। तेरे बिना हम कैसे जीयेंगे? वे अपनी मृत्यु का समय निकट जानकर चीखने-चिल्लाने लगते हैं तथा अपनी पूरी शक्ति लगाकर साधक को अपनी ओर खेंचते हैं। जिसका बल अधिक होता है मनुष्य उधर ही पहुँच जाता है। संस्कारों के फंदे में पड़ जाने पर तो वह

जीवन भर भी यदि निकलना चाहे तो निकल नहीं सकता। वह धराशायी कर दिया जाता है।

देखिए जीवन का एक अवसर आता है जिस समय मनुष्य चौराहे पर खड़ा होता है। उस पर से दो मार्ग जाते हैं। दोनों मार्ग विरोधी हैं। एक पर चला जाने पर दूसरे से बिल्कुल सम्पर्क नहीं रहता। इसी ढंग से एक राजा के दो पुत्र थे। उसने अपने पुत्रों से कहा कि देखो मेरे पास दो राज्य हैं—एक है कि जिसकी भूमि वंजर पड़ी है, जिसमें घने जंगल हैं, जंगलों में वड़े-बड़े हिंस्र जन्तु रहते हैं और दूसरा राज्य है जिसमें खूब वागवाड़ी लगी है, सुवासित गन्ध आ रही है। परन्तु है सब कृत्रिम। प्रथम राज्य को प्राप्त करके जो उस मार्ग पर गमन करेगा उसमें अत्यन्त कठिनाइयें होंगी, हिंस्र जन्तुओं से बचना होगा, समय-समय पर वलपूर्वक उनसे युद्ध भी करना होगा, परन्तु पश्चात् उसके अमर लोक आयेगा उसमें अनन्त काल तक सुख भोगना। परन्तु दूसरे राज्य में कागज के पुष्पों की गन्ध से सुख पाना परन्तु कुछ काल पश्चात् यह सब उजड़ जायेगा, फिर यह भयंकर जंगल बन जायेगा। फिर तुम इसमें दुःख से रहना। बताइये इसमें कौनसा राज्य श्रेष्ठ है। क्या कागज के पुष्पों से मन को प्रसन्न किया जा सकता है, उसमें लगे कृत्रिम सैन्ट की गन्ध से मन की तृप्ति की जा सकती है? एक वार के मोहक व क्षणिक सुख की अपेक्षा अनन्त सुख का सागर कष्ट सहकर भी प्राप्त करना कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

यह कथा जीवन की है। जो जीवन के मोड़ के समय अर्थात् गृहस्थ जीवन के प्रवेश के समय विवेक द्वारा अपने संस्कारों से युद्ध कर ब्रह्मचर्य के मार्ग में जीवन लगा देता है वह तो सहज मोक्ष मन्दिर को पहुँच जाता है। परन्तु जो संसार में पड़ जाता है उसका जीवन बरबाद हो जाता है। वह पछताता है, सर धुन-धुनकर रोता है और तड़फता है, छटपटाता है। जैसे मछली को जल से निकालकर किनारे पर रख दिया जाये ऐसे वह मोही भी बिलखता है, रोता है। परन्तु अव पछताए होत क्या जव चिड़िया चुग गई खेत। स्वयं अपने हाथों पर, पांवों पर कुल्हाड़ी मारने में कौन वुद्धिमत्ता है। स्वयं मकड़ी जाला पूरती है और उसी में फँसकर प्राण भी दे देती है। इसी प्रकार वह भी स्वनिर्मित वन्धनों में जकड़ जाता है और उसी में तड़फ-तड़फ कर

प्राण दे देता है। उसका रोम-रोम, उसके हाथ-पाँव और उसका मन सब कुछ बंध जाते हैं. कोई बच्चा यह पकड़ता है तो कोई दूसरा, कोई पाँव पकड़ता है तो कोई सर, कोई कुछ कहता है तो कोई कुछ। सूझ नहीं पाता कि इस बन्धन में से कैसे निकले। अरे बड़ी बुरी दशा होती है उसकी, एक कैदी से दयनीय दशा है उसकी। उसको मरने की भी फुर्सत नहीं है। वह सर धुनता है, रोता है परन्तु निकलने का कोई भी द्वार दिखाई नहीं देता। सारा जीवन उसी कैद में तड़फते-तड़फते समाप्त हो जाता है और अगले भव में न मालूम किस गति में जाकर पड़ेगा? परन्तु हताश होने की बात नहीं है। वे जाल में फंस कर भी यदि पुरुषार्थ करें तो कदाचित समय पाकर निकल सकते हैं। जिस प्रकार एक चूहा यदि जाल में फंस जावे तो वहाँ यदि पुरुषार्थ द्वारा धीरे-धीरे वह जाल को अपने पैने दाँतों द्वारा काटने का अद्भुत प्रयत्न करे तो उस जाल को काटकर बाहर भी आ सकता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य भावनाओं रूपी बल को प्राप्त करके गृहस्थ के बन्धनों को कम-कम करता जावे तो एक दिन स्वतन्त्र भी हो सकता है। परन्तु इसमें बल अधिक लगाना पड़ता है जबकि जीवन के प्रथम मोड़ में कम बल चाहिये। वह भी एक बार आगे जाकर तो वास्तव में दोनों को संस्कारों से युद्ध करना पड़ता है। परन्तु बन्धन वाले को इस भव के अर्जित संस्कारों का भी सामना करना होता है। संस्कार की शक्ति प्रबल है इससे असावधान हो जाना मूर्खता है क्योंकि न मालूम किस समय संस्कार जागृत होकर मनुष्य को पछाड़ दें। वे संस्कार उसको ऐसा पछाड़ेंगे कि रोता रह जायेगा, उठ न सकेगा, धराशायी हो जायेगा, चूर-चूर हो जायेगा। अतः उन संस्कारों के प्रति जागरूक रहने में ही बुद्धिमत्ता है। ब्रह्मामृत की कणिका एक छोटी सी, और वह भी नवोपार्जित। वह क्षुद्र बेचारी उन महान्‌भटों का कैसे मुकाबला कर सकती है? हृदय के इस द्वन्द्व में साधक बेचारा मारा जाता है। परन्तु हृदय के उस ब्रह्मबल को सिञ्चित करने के लिए तत्व-चिन्तवन होना चाहिये तथा संस्कारों से रक्षा करने के लिए संयम रूपी कवच धारण करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य व्रत को समस्त व्रतों का सरदार कहा जाता है तथा महाव्रत कहा जाता है। इसकी पूजा की जाती है। समस्त व्रतों में इसका पालन कठिन कहा जाता है, इस एक व्रत के पाल लेने पर समस्त व्रतों के फल की प्राप्ति कही जाती है तथा इसको मोक्ष मन्दिर का द्वार कहा जाता है, मुक्ति का दूत कहा जाता है! ऐसा क्यों? इसका रहस्य समझे बिना ही इतने प्रश्न होते हैं तथा इस व्रत का पालन कठिन लगता है। वास्तव में यह व्रत कठिन नहीं, समझने की कमी है। ब्रह्मचर्य व्रत केवल स्पर्शन इन्द्रिय अथवा मैथुन के त्याग को ही नहीं कहते अपितु पाँचों इन्द्रियों के संयम को ब्रह्मचर्य कहते हैं। जो पाँचों इन्द्रियों का नियंत्रण तो करे ना और केवल काय ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहे तो असम्भव होगा। हवा के घोड़ों पर सैर करनेवत् होगा। जिस प्रकार कोई प्रथम पैड़ी पर पाँव रखे बिना एकदम पाँचवीं पर पांव रखना चाहे तो वह कटिन होगा। यदि वह जबरदस्ती छलांग लगाने का प्रयत्न करेगा तो गिरेगा और सर तुड़ायेगा और उठ न सकेगा। इसी प्रकार यदि चार इन्द्रियों के संयम के बिना पंचम इन्द्रिय का ब्रह्मचर्य पालन करेगा तो वह भी गिरेगा। परन्तु यदि कोई क्रम से शेप चारों पैड़ियों को पार करके पाँचवीं पर पाँव रखे तो अत्यन्त सरल होगा, उसमें गिरने की सम्भावना ही नहीं है। इसी प्रकार यदि चारों इन्द्रियों को संयमित करके पाँचवीं को संयमित करे तो उसमें कोई कठिनाई नहीं होगी। मन समस्त पापों का सरदार है। महा शैतान है। जब वह चारों की लगाम का अधिपति बनकर उसको खींचता है तब पाँचवीं भी खिच जाती है। परन्तु जिसने चार इन्द्रियों की लगाम को ब्रह्म राजा को सौंप दी फिर मन भी वश में हो जाता है तब मन शैतानियत नहीं करता। इससे पंचम इन्द्रिय का व्रत स्वयं सध जाता है। तब वह अत्यन्त सरल व सहज साध्य लगेगा। इसी को महात्मा गाँधी जी ने कहा था रसना आदि इन्द्रियों के संयम से ही ब्रह्मचर्य साधना हो सकनी सम्भव है। अतः अब उसी संयम को बताया जाता है जो कि ब्रह्मचर्य व्रत के लिए कवच के तुल्य है। अभेद्य वज्र का किला है जिसमें सुरक्षित हो जाने पर संस्कार रूप शत्रु का कोई भय नहीं रहता।

प्रत्येक मनुष्य को अपने मन को वश में रखने के लिए, अपने हृदय के उज्ज्वल प्रकाश के लिए, अपने शरीर की बलिष्ठता के लिए, अपने गृहस्थ की समस्याओं के सुलझाव व प्रेम की स्थापना के लिए, अपनी सन्तति को योग्य बनाने के लिए, अपने बच्चों में अच्छे व पवित्र संस्कार डालने के लिए निम्न कुसंस्कारों से बचना चाहिये। सरस भोजन का त्याग करना चाहिये, क्योंकि इससे जिह्वा लम्पर होती है, मन चलायमान होता है। चटखारे लेकर भोजन करने से मन में रसना इन्द्रिय सम्बन्धी अब्रह्म हो गया। ऐसे भोजन से इन्द्रियां पुष्ट होती हैं। इन्द्रियों की पुष्टता मन को चंचल बना देती है। इन्द्रियों के आवेग व मन की चंचलता से व्यक्ति अपने को काबू नहीं कर सकता। वह अन्धा हो जाता है। वेदनातुर हुआ मारा-मारा फिरता है, रोकने पर भी इन्द्रियां बाज नहीं आतीं आखिर बलात् उसको विषयों में प्रवृत्त करा देती हैं। वे रोकने पर भी नहीं रुकतीं। भैय्या! स्वयं तो उनमें रस डालकर प्रज्ज्वलित किया फिर रुकें कैसे? दिये में तेल होगा तो वह तो जलेगा ही, अग्नि में ईंधन डालेगा तो अग्नि भड़केगी ही। इसी प्रकार इन्द्रियों में चटपटा भोजन रूपी रस दिया फिर वे प्रज्ज्वलित कैसे न हों। वह तो कषायाग्नि को भड़कायेंगी ही। इसका यह अर्थ नहीं कि रूखा ही भोजन किया जाये। शरीर को मीठा चाहिये मीठा दीजिए, इसको कौन मना करता है। पानी में घोलकर मीठा पी जाओ अथवा यूं ही खा जाओ, इससे शरीर की पूर्ति हो जायेगी। इस प्रकार इतना ही मीठा खाया जायेगा जितना कि शरीर को आवश्यकता है, जितने से शरीर चल सके, पुष्ट न हो। परन्तु मिठाई बनाकर खाना या हलवा बनाकर खाने की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार घी-दूध चाहिये तो अधिक खाना शरीर व इन्द्रियों को पुष्ट करने के लिए नहीं। बल्कि जिस प्रकार गाय को पेट भरने के लिए सब चीजें मिला-जुलाकर यूं ही चारा डाल दिया जाता है इसी प्रकार सब चीजें मिला-जुलाकर शरीर धारण करने के लिए भोजन-रूप चारा पेट में डाल देना चाहिये।

नेत्र इन्द्रिय के काम की वृद्धि के कारणभूत स्त्री के सुन्दर रूपों को न देखें। एक बार कोई व्यक्ति आया देख लिया परन्तु पुनः पुनः

उसका निहारने की प्रवृत्ति राग वर्धक है। इसका यह अर्थ नहीं कि उससे बात न की जाये। जिससे बात करनी हो उससे बात कीजिये परन्तु उसके सुन्दर रूप को पुनः निहारना, आसक्त सा होकर देखना अनुचित है। सिनेमा के अश्लील चित्रों का देखना, बाजार में सड़कों पर दीवारों पर के गन्दे चित्रों को देखने के प्रति ग्लानि होनी चाहिये। इससे मन में चंचलता होती है। नाविल्स व ऐसी पुस्तकों के चित्रों को देखने का त्याग होना चाहिये। सड़क पर जाते स्त्री-पुरुषों की सुन्दरता को निहारने का त्याग होना चाहिए। किसी के साथ भी आँख से आँख मिलाकर बात नहीं करनी चाहिए। अश्लील गाली देने का त्याग तथा इसी प्रकार की बातें करने का त्याग करना चाहिए। ऐसे भद्दे कामवर्धक गाने गाने व सुनने का त्याग होना चाहिए। रेडियो में आने वाले अश्लील गाने नहीं सुनें। इसी ढंग की कहानियें व किस्से न पढ़ें। शास्त्र में भी जहां शृंगार रस का वर्णन हो वह मत पढ़ें क्योंकि उसके पढ़ने से मन विकृत होता है तथा मानसिक अब्रह्म होता है। वहाँ पर बहुत कामुक जीवों को शृंगार के द्वारा शास्त्र की रुचि बनाकर अभिप्राय लिखे गये। पश्चात् उस शृंगार के दोष दिखाकर त्याग का ही उपदेश दिया गया है। परन्तु जो कल्याण के मार्ग की रुचि कर बैठा है उसके तो इस प्रकार पठन अहितकर सिद्ध हो जाता है। शरीर से कुचेष्टा न करें। इस ढंग की हँसी न हँसें तथा इस प्रकार की हँसी करते व्यक्ति को भी न देखें। विवाह शादियों में इस प्रकार के भद्दे गाने हँसियें विशेषकर होती हैं जिनसे प्रत्येक के मन में वासनायें उद्भूत हो जाती हैं। देखिये यहाँ बैठे आप के मन में स्वयं वैराग्य व ब्रह्मचर्य धारण के भाव हो रहे हैं, मन में प्रसन्नता, कुछ प्रकाश व आह्लाद सा हो रहा है परन्तु यदि विवाह में जायें तो वहां वैसा ही मन हो जाता है—नव दम्पति के कमरे में प्रवेश करते ही मन मलीनता व अन्धकार से परिपूर्ण हो जाता है और एक वैरागी का मन घृणा से भर आता है। अतः ऐसे स्थानों पर जाने के प्रति विवेक होना चाहिये तथा स्वयं इनसे दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी के गुप्त अंगों के प्रति दृष्टिपात न करें।

शरीर को खूब सुसंस्कृत करने का त्याग होना चाहिये। शरीर को अधिक नहलाना, साबुन व क्रीम-पाउडर तथा सैन्ट आदि का प्रयोग करने से शरीर के प्रति राग बढ़ता है। स्पर्शन इन्द्रिय के प्रति मन आसक्त होता है। शरीर को नाना प्रकार के सुन्दर वस्त्रों से सजाना व खूब भड़कीले वस्त्र पहनाना काम वासनाओं की वृद्धि का जीता जागता रूप है। उससे पहनने वाले का मन तो वासनाओं का पुतला है ही दूसरे भी उनके शिकार बन जाते हैं। आज की जो बहनें, बहुएं सोलह शृंगार करके, महीन से महीन तथा चुस्त वस्त्र पहनकर सड़कों पर जाती हैं वे शरीर को अर्ध नग्न दिखलाती हैं, तथा कुचेष्टापूर्वक हँसी व इधर-उधर देखती चलती हैं, ऐसी उन रति मूर्तियों को देखकर अच्छे--अच्छे धैर्यशालियों के मन चलायमान हो जाते हैं। इसी प्रकार लड़के ऐसी ही चुस्त ड्रेस व विविध विचित्र वस्त्र पहने सड़कों पर अश्लील गाने गाते व युवतियों की तरफ विचित्र हँसी करते फिरते रहते हैं। इसी से उन नारियों के मोम के हृदय भी पिघल जाते हैं। ऐसी अवस्था में सतीत्व कहाँ टिक सकता है? सतीत्व केवल भोग से ही विनष्ट नहीं होता अपितु किसी की कुदृष्टि पड़ जाने से अथवा मन में कुविचार आ जाने से भी भंग हो जाता है। सीता को कुम्हार ने दोष इसलिये नहीं लगाया था कि सीता ने कोई कुकर्म किया था अथवा उसके मन में कुविचार आया था अपितु इसलिये दूषित बताया था कि रावण की उस पर कुदृष्टि पड़ी है परन्तु आज की नारियां तो स्वयं अपने शील को भंग करने के साधन जुटाती हैं। शृंगार संसार को दिखाने के लिये नहीं हुआ करता। जो नारी सड़क पर अधिक सजधज कर जाती है उस पर ही सैंकड़ों की कुदृष्टि पड़ा करती है। उनको ही अपने शील की रक्षा करनी दूभर होती है। यदि अकेली व एकान्त में हो तो उसका शील भ्रष्ट भी हो जाता है। परन्तु यदि कोई सादे वस्त्र पहन कर खुली सड़क पर, भीड़ में अथवा एकान्त में भी जा रही हो तो उस पर कोई आंख उठाकर नहीं देखता। यदि देखता भी है तो सहज

८५ स एक वार। उस देवी के प्रति दर्शक का हृदय भी बहन व वेटी के भावों से भरा होता है तथा आँख में श्रद्धा होती है। अत: सदा सादा वस्त्र पहनिये तथा नीचे नेत्र रखिये मानो कि आप कुछ विचार रहे हों तो काम के शस्त्र आपके हृदय को वींध न सकेंगे। अपने वच्चों के अतिरिक्त दूसरों के लड़के लड़कियों के विवाह सम्वन्ध में मत पड़ें क्योंकि यह भी काम वासनाओं को जागृत करने में सहायक होते हैं। मन को वश में रखने के लिये प्रभु का स्मरण कीजिये क्योंकि मन सवका राजा है। ठीक ही कहा है– "मन के जीते जीत है मन के हारे हार।" अव देखिये एक कथा सुनाती हूँ जिससे पता लगेगा कि वाह्य इन्द्रिय संयम का व्रह्मचर्य से कितना सम्वन्ध है। वाह्य संयम के पालन से व्रह्मचर्य सहज साध्य है जवकि वाह्य संयम के विना असम्भव।

एक गुरु के चार शिष्य थे जिनमें चारों के नाम क्रम से भयहर, कन्दर्पहर, मन्युहर, मोहहर थे। चारों शिष्य सुयोग्य व गुरु भक्त थे। गुरु जी सोचते थे कि चारों में कौन श्रेष्ठ है जिसको कि मैं अपनी गुप्त विद्या दूं। इसका जव वे निर्णय न कर पाये तव उन्होंने परीक्षा के लिये चारों शिष्यों को वर्षायोग में चार महीने विभिन्न स्थानों पर विताकर आने के लिये कहा। भयहर को उन्होंने शेर की गुहा के द्वार पर भेजा, कन्दर्पहर को कुएं की मेंढ पर, मन्युहर को भयंकर सर्प की वाँवी पर तथा मोहहर को पिंगला वेश्या के महल में। चारों शिष्य गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके अपने–अपने स्थान को चल दिये।

भयहर जिस शेर की गुफा पर पहुँचा वह वड़ा क्रोधी था। दूर–दूर तक उसकी ख्याति थी। आस–पास के वनों में भी कोई जन्तु न पाया जाता था। जंगल में उसका एकछत्र राज्य था। परन्तु उसकी माँद पर भयहर निर्भय चला गया। उस समय शेर वाहर शिकार को गया हुआ था। कुछ ही समय पश्चात् शेर आया, उसको मनुष्य की गन्ध आई। आज उसे जंगल में भी कोई शिकार न मिला था। इसलिये भूख के कारण वह उसकी ओर उत्कण्ठित

हुआ। अपनी ही माँद पर आये भक्ष्य को देखकर वह खुश हुआ और उसने अपना पंजा भयहर को पकड़कर खा जाने के लिये उठाया। परन्तु भयहर शान्त व प्रसन्न खड़ा रहा। शेर ने अपना पंजा नीचे कर दिया। पुनः शेर ने पंजा उठाया परन्तु फिर भयहर के प्रसन्न मुद्रा में खड़े रहने से चुप हो गया। शेर ज्यों ही पीछे गया त्यों ही भयहर उसके सामने मुंह करके खड़ा हो जाता इससे शेर का क्रोध और भी प्रज्ज्वलित हो जाता। ज्यों ही वह मारने को पंजा उठाता त्यों ही भयहर शान्त मुस्कराता रहता। इस प्रकार करते भयहर को चार दिन हो गये। चार दिन के पश्चात् शेर शान्त होकर बैठा और भयहर ने उसको उपदेश दिया कि 'हे वनराज! किस पाप के उदय से तू इस हिंस्रयोनि में आया है तथा यहाँ पर भी नाना जीवों की हिंसा से तू पाप का संचय ही कर रहा है। इसके फल से जो तुझे नरकादि गतियों में असह्य वेदनाएं सहनी पड़ेंगी उसको स्मरण कर।' शेर शान्त भाव से बैठा सुन रहा था। उसका चित्त बदल गया। वह हिंसा से विरक्त हो गया। चार दिन तक वह लगातार उपदेश सुनता रहा। अब उसकी आत्मा पवित्र हो गई थी, उसका मन हिंसा से विरक्त हो गया। आज आठ दिन हो गये उसने कुछ भी न खाया। तब साधु की आज्ञा से भूख से मरते उसने जंगल की घास खाकर प्राण धारण किये। अब शेर शाकाहारी बन गया। सवेरे उठकर नित्य साधु के चरणों में नमस्कार करता और उनके मुख से उपदेश श्रवण करता। इस प्रकार भयहर ने भय को जीतकर चार महीने वहाँ बिताये।

मन्युहर सर्प की बांबी पर गया। वह सर्प भयंकर था। उसकी एक फुंकार का विष मीलों तक फैलता था। सब उसके नाम-मात्र से कांपते थे। मन्युहर सर्प की बांबी के ऊपर जाकर खड़ा हो गया। योग की शक्ति के कारण विष का उस पर कोई प्रभाव न हुआ। तब ही सर्प अपने बिल से निकलकर आया। उसने क्रोधाविष्ट होकर उसको काटना शुरू किया। परन्तु मन्युहर भी स्थिर खड़ा रहा। आखिर थक वह अपने बिल में जाने लगा, तब ही मन्युहर

ने उसकी पूंछ दबा दी। इससे सर्प को और क्रोध आया। उसने मन्युहर के शरीर में खूब डंक मारे और सारे शरीर में स्वयं लिपट गया और फन फैलाकर उसके मुंह को ढक दिया। बहुत देर तक मन्युहर के स्थिर खड़े रहने के पश्चात् सर्प फिर अपनी बांबी में जाने लगा। मन्युहर ने फिर पूंछ दबा दी। सर्प फिर बाहर आया। मन्युहर ने उसको पीने को दूध दिया। दूध पीकर वह सर्प और अधिक क्रोधित होकर काटने लगा। जब सर्प थककर लहुलुहान हो गया तब शान्त हो गया। मन्युहर ने तब उसको अपने उपदेशामृत से तृप्त किया। सर्प फिर क्रोध को त्याग कर शान्त रहने लगा। तब मन्युहर ने चार महीने वहाँ विताये।

तीसरा कन्दर्पहर कुएं की मेंढ पर जाकर बैठा। वहां नाना प्रकार की सुन्दर युवतियां आतीं। वहां बैठकर नग्न-अर्धनग्नावस्था में स्नान करतीं, खूब शृंगार करके आतीं। हँसी-मजाक व अश्लील बातें करती, व्यंग्य करती थीं। परन्तु कन्दर्पहर प्रभु के चरणों में अपने मन को लगाये था। उसके नेत्र नीचे थे। वह सब कुछ सुनकर भी कुछ न सुनता था। समाधिस्थ रहता था। इस प्रकार चार महीने उसने वहां विताये।

चतुर्थ शिष्य मोहहर पिंगला वेश्या के महल में गया। वहाँ जाकर उसने द्वार पर अलख जगाई। दासी आई, उसने एक युवक योगी के पधारने की सूचना दी। दासी स्वामिनी की आज्ञा से साधु को महल में ले आई। पिंगला ने सोचा तो यह था कि आज एकादशी के दिन साधु को आहार दूंगी। परन्तु वह तो उसको देखकर मोहित हो गई। वह मोहहर को एक सुसज्जित कमरे में ले गई। उस कमरे में खूब काम का साम्राज्य था। समस्त प्रकार की विलास की सामग्री जुटाई गई थी। किसी प्रकार के वैभव की कमी न छोड़ी गई थी। सुन्दर शय्या, मख-मल के गलीचे बिछे थे। सुगन्धित इतर चारों तरफ छिड़का था। धूपघर रक्खे थे, अच्छे-अच्छे धैर्यशालियों के मन वहां विचलित हो सकते हैं ऐसा वैभव था। ऐसे विलासितापूर्ण कमरे में ज्योंही उसने प्रवेश किया त्योंही मोहहर का चित्त घृणा से भर आया। उसने कहा कि हे देवी ! मैं तेरे मन्दिर में चार महीने रहूंगा। अतः तू यहां से यह

सब सुख का साज उठा ले, यह कुछ भी मुझे नहीं चाहिये। वेश्या ने सोचा अभी तो आया है क्या जानता है। मेरे चंगुल में अच्छे-अच्छे फंस गए। यह तो है कौन चीज़ ? पिंगला ने सर्व सामान उठा दिया। तब मोहहर एक कोने में अपना तृण का आसन बिछाकर बैठ गया। पिंगला उसके खाने को स्वादिष्ट दूध मलाई आदि लाई। परन्तु साधु ने कहा कि "मैय्या ! हम साधुओं का ऐसा भोजन खाना युक्त नहीं है। हमारे लिये तो यदि तुझे खिलाना ही है तो रूखी ज्वार की रोटी ले आ"। पिंगला को क्रोध आया, उसने चिढ़कर कहा–"अरे साधु ! सम्भल जा, फिर तूने मुझे मय्या-मय्या कहा तो तेरी खैर नहीं है। कोरा जंगल का ढोर है, क्या जाने यह व्यञ्जन खाना, पत्थर चबायेगा पत्थर।" योगी ने कहा –"माता! हमारे लिये तो यही व्यञ्जन है।" वेश्या क्रुद्ध होती गई और चिढ़कर जली भुनी ज्वार की रोटी दासी के हाथ भेजी। रोटी इतनी सख्त थी कि तोड़ो तो न टूटे परन्तु साधु ने बड़ी प्रसन्नता से उसको खाया। मध्याह्न में पास के कमरे में पिंगला की महफिल लगी। उसमें नाना प्रकार के कामवर्धक गायन व नृत्य हुए परन्तु मोहहर का मन तो अपने ब्रह्म में लीन था। उसको कुछ भी सुनाई न दिया। रात्रि को वेश्या ने कमरे में खूब दीपकों की रोशनी की। साधु ने कहा—हे माता ! यह सब किस लिये ? ये समस्त दीपक हटा दे, केवल एक दीपक प्रकाश के लिये रख दे। तब वेश्या ने दीपक हटाये और कुछ देर के पश्चात् सज-धज कर आई। उसने साधु से कहा, अरे सम्भल जा, या तो मेरी इच्छा पूर्ण कर अन्यथा यह आई तेरी मौत, यूं कहकर पिंगला ने कटार निकाल ली। अब तो साधु की द्वन्द में जान फंस गई। प्राणों का भय न था। परन्तु वेश्या के हाथ से मरना तथा परीक्षा में सफल होकर गुरु के पास न पहुँचना ये दोनों बातें दुखकर थीं। अतः मोहहर ने कहा, अच्छा तो हे देवी तैय्यार हो जाओ। परन्तु इतना समझ लो तुम्हारे संग लेटकर मैं तुम्हें एक बात बताऊँगा, जब तक मेरी बात पूर्ण न हो तब तक तुम सुनती रहना। इतने तक मेरे शरीर को स्पर्श करने का प्रयत्न न करना। पिंगला ने सोचा कि इतना तो काबू में आया। एक शय्या पर सोकर कौन बचकर गया है जो यह जायेगा। और वे दोनों अस्पर्श रहकर लेट गये।

मोहहर ने उसको विभिन्न कथायें सुनाईं जिनकी शिक्षा थी कि मानव भव को प्राप्त क्षणिक इन्द्रिय सुख के पीछे अपने भवभवान्तर विनष्ट कर देने में कौन बुद्धिमत्ता है। आगामी भवों के सुख व अविनाशी प्राप्त करने में ही जीवन का सार्थक्य है। चार महीने तक निरन्तर सत्संग के माहात्म्य से वेश्या का चित्त बदल गया। अब वेश्या एक पवित्र भक्ता बन गई। उसकी काम वासनायें विनष्ट हो गईं। उसका गायन साज प्रभु के गीत का साधन बन गया। उसकी महफिल सत्संग बन गई, उसका महल प्रभु का मन्दिर बन गया, उसके मित्र भक्त बन गये। इस प्रकार वेश्या के जीवन का हर पहलू पलट गया। चार महीने समाप्त होने के पश्चात् पिंगला ने साधु से क्षमा मांगी और साधु उसको गुरु मंत्र देकर गुरु गृह को विदा हुआ। चारों शिष्य गुरु के सान्निध्य को यथासमय प्राप्त हुए। गुरु ने चारों को आशीर्वाद दिया। परन्तु परिणाम कुछ न सुनाया न किसी से कुछ पूछा। मन्युहर के हृदय में यह शल्य खटकती रही और उसने एक दिन गुरु जी से पूछ ही लिया। गुरु जी ने कहा कि सर्वश्रेष्ठ मोहहर रहा। तब मन्युहर ने चुपचाप सुन लिया कि सर्प की बांबी पर रहना और भयंकर दंश को सहन करना क्या आसान है? वेश्या के रहा होगा, खूब मौज की होगी। वहां कौनसी तपस्या की है? गुरु जी ने क्यों व कैसे इसको सर्वश्रेष्ठ बताया। गुरु जी उसके मन की बात को जान रहे थे। उन्होंने कहा समय आने पर बतायेंगे। अगले चौमास में उन्होंने मन्युहर को वेश्या के घर में ही वर्षायोग पूरा कर आने को कहा। मन्युहर तो चाहता यही था। अतः प्रसन्नमन पिंगला के महल की ओर गया।

पिंगला के महल के दर्वाजे पर जाते ही उसने अलख जगाई। पिंगला ने सोचा पिछले वर्ष भी इसी दिन योगीराज आये थे। भाग्य से आज फिर वही आये हैं। अब तो मेरी किस्मत जाग गई। चार महीने तक अच्छा सत्संग चलेगा तथा उनकी सेवा करके मैं कृत-कृत्य होऊंगी। वेश्या ने साधु महाराज को बुलाया। ठीक पूर्व जैसे योगी को मानो उन्हीं के भाई ही हों देख वह अति प्रसन्न हुई। वह उनको उसी कमरे में ले गई। साधु कहने लगा देवी हम तो इसी पर बैठ जायेंगे। ऐसा कहकर वह योगी सुन्दर मखमल बिछे आसन पर बैठ

गया। तव पिंगला स्वादिष्ट भोजन थाल लगाकर लाई। साधु ने मन ही मन सोचा अरे! वाह खूव मौज उड़ाई है यहां, वढ़िया गद्दों पर विश्राम किया तथा नाना प्रकार के माल खाये हैं और फिर गुरु के समक्ष श्रेष्ठ वन गया। वाह! कैसा आनन्द है यहां? यूं मन में विचार कर उसने वह भोजन खूव स्वाद लेकर खाया। उसकी इस प्रकार की प्रकृति से वेश्या के मन में संशय हो गया। उसनें सोचा कि अवश्य ही यह कोई मनचला है अत: इसकी परीक्षा करनी चाहिये। इसलिये वह वरावर के कमरे में खूव गाने गाने लगी। ज्यों-ज्यों गाने गाती त्यों-त्यों मन्युहर उनके राग भरे शव्दों को सुनता था। पौष्टिक सरस भोजन करने से, कोमल शय्या के स्पर्श से तथा पिंगला के सुन्दर रूप व वाणी से तथा गायन की मधुर ध्वनि से मन्युहर का मन कावू से वाहर हो गया। वह भूल गया अपने को भी। रात्रि को पिंगला दूध लेकर आई। मन्युहर ने वड़े प्रेम से उसको पिया तथा कामान्ध होकर वेश्या का हाथ पकड़ खींचने लगा। अरे! यह सव जीवन किस लिये। ऐसा समय और यह अवस्था तो भोग के लिये ही होती है। शरीर भोग करता है आत्मा नहीं, शरीर का भोग आत्मा को स्पर्श नहीं करता, मन ने भी ऐसी शैतानियत की तथा वकालत भी की। परन्तु वेश्या तो साध्वी वन चुकी थी। उसने सोचा कि इसको सम्वोधना चाहिये। अत: उसने कहा कि राजा की रानी का नवलखा कम्वल लाकर दो तो मैं तैय्यार हूँ। मन्युहर ने जिस किस प्रकार वह कम्वल लाकर दिया। वेश्या ने लेकर उसको मल-मूत्र त्याग के स्थान पर फेंक दिया। मन्युहर देखता रह गया। उसने कहा यह आपने क्या किया, मैं तो इतने परिश्रम से इतना कीमती कम्वल लाया हूँ तुमने इसको साधारण व्यर्थ सा समझकर फेंक दिया। पिंगला कहती है कि आप इतने कीमती मानव जन्म तथा संयम रूपी रतन को व्यर्थ घृणित सुख के लिये फेंक रहे हो तो मैंने कम्वल फेंक दिया तो कौन वड़ी वात हो गई। यह भव पुन: पुन: प्राप्त नहीं होता। अपने संयम की रक्षा कीजिये। यदि तुम्हें शरीर ही प्रिय है तो वताइये इसमें आपको कौन अंग प्रिय लगता है मैं वही काटकर आपको दूंगी। इस प्रकार के उपदेश से मन्युहर का मान गल गया, उसको अपनी भूल पर पश्चाताप हुआ। उसने पिंगला के चरण

पकड़ लिये और कहा कि हे माता! तूने इस डूबते को बचा लिया, तूने मेरा उद्धार कर दिया। तू ही वास्तव में मेरी गुरु है। फिर चार महीने सत्संग में विताकर मन्युहर गुरु गृह में पहुँचा। गुरु तो सब जानते थे। वेचारा स्वयं ही लज्जित था और पश्चाताप के द्वारा अपना प्रायश्चित्त कर रहा था।

उपरोक्त कथा से पता लगता है, शेर के भय को, सर्प के विष को सहन करना सरल है परन्तु काम के वाण को सहन करना अति कठिन है। उस वाण को भी जो युक्ताहार व सादगी व संयम से रहता है तो सहज रूप से जीत सकता है। परन्तु पौष्टिक व स्वादिष्ट भोजन एवं असंयम से रहने में मन्युहरवत् उसके हथियार फेल हो जाते हैं। वह हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाने लगता है। अतः जीवन में सादगी रक्खें। सात्विक भोजन करें। इससे इन्द्रियां वश में रहेंगी, उच्छृंखल न होने पायेंगी। मन को चलायमान न करेंगी, दृष्टि को चंचल न बनायेंगी। चारित्रहीनों का सम्पर्क त्याग दें। ऐसे मनुष्यों का एकान्त में तो भूलकर भी सहवास न करें क्योंकि सदा से वश में किया मन भी ऐसे सहवास को प्राप्त होकर काबू से बाहर हो जाता है। इस सब संयम व आचरण से विचार शुद्ध होंगे। हृदय में प्रकाश व उल्लास होगा। स्वच्छ व उज्ज्वल चित्त में ज्ञान की प्राप्ति होगी। सर्वज्ञत्व की उपलब्धि होगी। आज भी सर्वज्ञत्व हम में है। परन्तु मलिन वासनाओं के नीचे दवा पड़ा है। अतः वासनाओं को निकालिये और मन पवित्र कीजिये तव आप प्रभु बन जायेंगे, अपूर्व एवं अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो जायेगी।

आचार्य शुभचन्द्र जी ने सत्य कहा है--

प्रवृद्धमपि चारित्रं ध्वंसयत्याशु देहिनाम्।
निरुणद्धि श्रुतं सत्यं धैर्यं च मदनव्यथा ॥ ११।३५॥

दक्षोमूढः क्षमी शूद्रः शूरो भीरुर्गुरुर्लघुः ।
तीक्ष्णः कुण्ठो वशी भ्रष्टो जनः स्यात्स्मरवञ्चितः ॥ ११।४०॥

अर्थ--मदन की व्यथा जब उठती है तब जीवों के बहुत दिन से बढ़ाये हुए तथा पाले हुए चारित्र को ध्वंस कर देती है। एवं शास्त्राध्ययन धैर्य और सत्य संभावणादि को भी बन्द कर देती है।॥३५॥

काम से ठगा हुआ मनुष्य चतुर भी मूर्ख हो जाता है, क्षमावान क्रोधी हो जाता है, शूरवीर कायर हो जाता है, गुरु लघु हो जाता है, उद्यमी आलसी हो जाता है, और जितेन्द्रिय भ्रष्ट हो जाता है। काम ऐसा प्रबल है।॥४०॥

नया मोड़

अहा हा ! आज हृदय के गम्भीर जल में आनन्द की भेरी बज रही है, आज मेरे मन रूपी सिंहासन पर प्रभु आये हैं। आज हृदय में अद्भुत उल्लास है, आज चैतन्य के दिव्य प्रकाश में मुझे अपना ईश्वरत्व स्पष्ट प्रतिभासित हुआ है। आज मुझे पता लगा है कि कहीं ईश्वर बैठा डोर हिलाकर मुझे संचालित नहीं कर रहा है। अपितु मैं स्वयं ईश्वर हूँ, ब्रह्म हूँ, तथा विष्णु व महेश हूँ। मैं स्वयं ब्रह्मा हूँ, भगवान हूँ। आज तक अपने ईश्वरत्व को जाना नहीं था। यही बड़ी अज्ञानता व मूढ़ता थी। ईश्वर बनना नहीं है अपितु अभी ईश्वर हूँ, ईश्वर था व रहूँगा। जिस प्रकार से भेड़ियों में मिल जाने वाला शेर का बच्चा यद्यपि आज भेड़वत् रहता है परन्तु क्या वह भेड़िया है? क्या शेर की दहाड़ सुनकर शेर बनेगा वा बना है? नहीं, ऐसा नहीं है। वह शेर पहले से था, परन्तु अज्ञानता के कारण अपने सिंहत्व को भूला हुआ था। इसी प्रकार मैं ईश्वर हूँ आज परम प्रभु शरण में आने पर मुझे ऐसा स्पष्ट दिखाई दे रहा है। अहा! आज मैंने अपने ईश्वरत्व को पहिचान लिया। आज मेरे हृदय में परमानन्द का स्रोत फूटा पड़ रहा है। आज मेरे ज्ञान चक्षुओं का उन्मीलन हुआ है। आज मुझे अपने ज्ञान की अचिन्त्य शक्ति का आभास हुआ है।

आत्मा ही परमात्मा है। वही गुरु है वही शिष्य भी। अपने मन को देखो। अन्तर्हृदय को पढ़ो। शास्त्रों में ज्ञान नहीं रखा। समस्त जगत् का ज्ञान, दुनियां के शास्त्र सर्व मानव के हृदय में जमा हैं। शास्त्रों में लिखे तत्व भी तो मानव हृदय की अनुभूतियें हैं। वह कहीं से मांगकर लानी नहीं पड़तीं। वास्तव में शास्त्रों का ज्ञान भी मानव हृदय शास्त्र से पढ़ सकता है। मन के शास्त्रों को, हृदय के अटूट ज्ञान भण्डार को, मन की लायब्रेरी को वही जान सकता है जिसने अपने चित्त पर से विक्षेप व आवरण को हटा दिया, जिसने अपने हृदय को स्वच्छ कर लिया है। आपके समस्त गुण व दोष को जानने वाला यंत्र भी हृदय में विराजमान है। मन को जानो तभी मन की बड़ी विभूति

को जान सकोगे, मन के चित्र-विचित्र यंत्रों का आविष्कार कर सकोगे। ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं, वह तो हृदय में पहले से जमा है, केवल आवरण हटाने की आवश्यकता है, कषाय के आवरण को हटाना मात्र है। देखिए जब आपको क्रोध आ रहा होता है उस समय यदि आपसे कोई बात पूछूं अथवा किसी प्रश्न का हल पूछूं तो आप उत्तर देंगे कि इस समय आप मुझसे बोलो मत क्योंकि मेरी बुद्धि इस समय खराब हो रही है। यदि कदाचित आप स्मरण भी करेंगे तो उसे जानते हुए भी आप बता न सकेंगे भूल जायेंगे। परन्तु जिस समय शान्त स्थिति में बैठे होंगे उस समय आपके चित्त में नवीन विचारणाओं की उत्पत्ति हुआ करती है। बहुत सी ऐसी बातें दिमाग में आ जाती हैं जो कि पहले आपने पढ़ी भी नहीं हैं। तात्पर्य है "कि कषाय से बुद्धि व ज्ञान लुप्त हो जाता है तथा उसके अभाव से उसी ज्ञान का प्रादुर्भाव।" इसी प्रकार एक समय एक जिज्ञासु बहुत से प्रश्न लिखकर गुरु की शरण में उनका समाधान करने के लिए गया। वहां गुरु से प्रश्न पूछने का साहस न हुआ। उन शान्तमूर्ति गुरु के समक्ष चुपचाप बैठकर चला आया। आकर देखता है कि उसके समस्त प्रश्नों का समाधान हो गया। तात्पर्य कि गुरु के समक्ष समस्त विकल्पों व चिन्ताओं को छोड़कर शान्त वातावरण में बैठा तो उसके अन्तर्प्रभु ने ही सब समाधान कर दिया अर्थात् मन में स्वतः ज्ञान प्रगट हो गया। यह तो हुई सामान्य ज्ञान की बात। इसी प्रकार मलिन चित्त में अपने दोष भी दिखाई नहीं देते। जिस प्रकार शीशे के सम्मुख जो अपना मुंह करके खड़ा होवे उसमें यद्यपि उसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है परन्तु शीशे पर कालिमा होने से उसमें मुंह नहीं दिखता परन्तु यदि कालिमा हट जाये तो उसमें अपना मुंह प्रगट दिखता है, मुंह के समस्त गुण-दोष स्पष्ट दिखते हैं। इसी प्रकार जब मन पर से चंचलता व कषाय का आवरण कुछ मन्द होता है तभी उसको अपने जीवन के समस्त दोष व गुण दिखाई दिया करते हैं।

जीव का मन ही गुरु है, उस गुरु की सुनिये। वह निरन्तर अपनी ओर बुला रहा है। वास्तव में गुरु तो संकेत कर सकता है परन्तु आचरण तो अन्तर्गुरु ही कराता है क्योंकि यदि गुरु संकेत करे और

अन्तर्गुरु न माने तो उस शिक्षा पर आचरण नहीं किया जाता है। उसी प्रभु की स्वीकृति ही परम स्वीकृति है। अतः अन्तर्गुरु ही परम गुरु है। वह उपरोक्त सिद्धान्तवत् अपने समस्त दोषों को जानता है तथा हटता भी है। अत: उसी को पढ़ने का प्रयत्न करे। वही परम शरण है, वही परम रक्षक है। देखिए वह निरन्तर टक-टक कर रहा है। पहले ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप बताया। वहां भी उसी परम प्रभु की प्रेरणा से उस परमावस्था को पहुंचने का मार्ग दर्शाया वा क्रम बताया। आज दीक्षा की बात चलती है। उसमें भी दीक्षा का अर्थ है कि जो परमात्मा की आवाज सुनने व पहिचानने लग जाये अर्थात् उसके पढ़ने में चतुर एवं दक्ष हो जाये। अन्तर्हृदय की आवाज का अनुकरण करने लग जाये ऐसी योग्यता जिसमें प्राप्त हो जाये अथवा जिसके चित्त में कषाय के आवरण का अभाव होकर प्रभु की हल्की किरण का उन्मेष हुआ है और उस किरण का संकेत पाकर जो उस पर अनुकरण करने को आतुर हुआ है, इसी से परम गुरु की शरण को प्राप्त होता है। वही दीक्षा का पात्र है। दीक्षा ली नहीं जाती अपितु हुआ करती है। दीक्षा धारण करने में कैद है, नियमों का बन्धन है, अन्धकार है। परन्तु दीक्षा होने में हर्ष व उल्लास है, आनन्द है। गुरु द्वारा बताये संकेतों पर चलने में पराधीनता है तथा उसमें स्खलना हो सकती है परन्तु अन्तर्हृदय के संकेतों में स्खलना का कोई कारण ही नहीं। दीक्षा लेने में गृह त्याग दिखता है तथा सम्पत्ति के प्रति ममत्व व धनत्व का भाव है परन्तु दीक्षा होने में वन ही गृह लगता, नन्दन कानन लगता है तथा सम्पत्ति धूल लगती है। अत: दीक्षा होना ही सच्ची दीक्षा है। स्वयं अन्तर्गुरु की प्रेरणा से अपने जीवन को पढ़कर अपने दोषों को निकालना ही साधना है। दोषों का निराकरण होकर विशुद्ध होना ही सच्ची दीक्षा है।

देखिए एक समय दक्षिण में दो सेठ थे। जिनका संज्ञा करण करें तो समझने के लिए राम और श्याम रख लीजिए। दोनों ही वैभव सम्पन्न थे। दोनों में किसी विशेष कारण से वैमनस्य हो गया। वह विरोध भी इतना बढ़ा कि दोनों एक दूसरे के जानी दुश्मन बन गये, सदा इस ताक में रहते कि जब भी कोई अवसर मिले तो दूसरे को मार दें। अपने-अपने नौकरों में उन्होंने ऐसा आदेश दे रखा था। एक

समय दैवयोग से राम एक महात्मा के सत्संग में गया। वहां उपदेश सुनकर उसका चित्त संसार से विरक्त हो गया। उसने सोचा अरे संसार में कहीं भी सुख नहीं। गृहस्थी में रात-दिन चिन्ता ही चिन्ता की झड़ी है, तृष्णा की भट्टी लगी है। कभी माँ की, कभी पत्नी व बच्चों की पुकार, कहां तक शिकायतों को सुना जाये। यदि समस्त इच्छाओं को गिना जाये तो शरीर की जितनी रोम राशि हैं, उनकी संख्या से असंख्य गुणी चिन्ताओं की संख्या है। परन्तु बड़ी चिन्ता के नीचे छोटी चिन्ता दबकर लुप्त सी हो जाती है। अतः संसार से हट-कर जो एकान्त में प्रेम रस पान करते हैं वही वास्तव में जीवन का सच्चा सुख पाते हैं। अतः मैं तो अब घर जाना ही नहीं चाहता। हृदय के इस द्वन्द्व से उसने नवनीत निकाला कि महात्मा की शरण में रहना ही शान्ति का सच्चा उपाय है। तब उसने करबद्ध होकर गुरु से निवेदन किया कि भगवन ! मुझे दीक्षा दे दें। गुरु का प्रत्युत्तर था कि अभी तुम योग्य नहीं हो। अब उसने अपने मन में सोचा कि मुझमें क्या कमी है जो गुरु ने मुझे दीक्षा के अयोग्य बताया। तब मन का मन्थन किया। जिज्ञासा रूप अन्तर्गुरु की जागृति हो चुकी थी। प्रेरणा व प्रकाश मिला कि ठीक तो है अभी तू घर में रहता है, कुटुम्ब का पोषण करता है, व्यापार में फंसा है, इतने जञ्जाल तेरी जान को लगे हैं, फिर चला है दीक्षा लेने। ऐसा विचार कर वह घर आया। अब उसने सम्पत्ति का बटवारा कर दिया, व्यापार को छोड़ दिया और स्वयं घर के एक कमरे में रहने लगा। तब गुरु से जाकर दीक्षा के लिए प्रार्थना करी। गुरु जी का वही प्रत्युत्तर था। अब घर आकर सोचता है अब क्या कमी है। समस्त ज्ञान अपने मन में है परन्तु सावधानी से विवेक पूर्वक सोचें तो उस परमात्मा की आवाज सुनाई दे सकती है तब उसको विचार आया कि ठीक है अभी तू घर में रहता है, घर के सम्बन्धियों से मोह करता है, व्यापार सम्बन्धी बातें करता है। इतना तू फंसा हुआ और फिर चला है दीक्षा लेने। अब वह घर छोड़कर मन्दिर में रहने लगा। केवल घर जाकर रोटी खा आता। शेष सर्व समय प्रभु चरणों में व्यतीत करता। विचारता है कि अब तो मुझमें कोई कमी नहीं है। अब फिर गया गुरु के पास और दीक्षा देने के लिए प्रार्थना की। परन्तु गुरु जी का वही प्रत्युत्तर। अब जिज्ञासा उत्कण्ठित

ह्रागृह। अव तो कोई कमी नहीं रही। परन्तु बुद्धि पर जोर देने से अन्तर्गुरु ने कहा कि घर ही क्यों जाता है भोजन करने तथा इसी ग्राम में क्यों रहता है। यह तो तेरा मोह है। सभी घर तेरे हैं, सभी ग्राम तेरे हैं। यहां पर रहते सव सुविधायें प्राप्त हो रही हैं अत: दूसरे ग्राम में जाने से तुझे भय क्यों ? ऐसा विचार कर अव वह ग्राम–ग्राम विचरण करने लगा। भिक्षा मांगता और खाता। अव उसने अपने जीवन को खूव पढ़ा। परन्तु कोई कमी नजर न आई। अत: उसने सोचा कि अव तो गुरु जी अवश्य दीक्षा देंगे। अत: अव जाकर सविनय अञ्जलिवद्ध होकर गुरु जी से प्रार्थना की, परन्तु गुरु जी का वही उत्तर।

अव तो मन कांप उठा। हृदय का साहस टूट गया। धैर्य का वांध टूट गया। वह एकदम सिहर उठा। अव तो मुझमें कोई कमी नहीं रही घर छोड़ दिया, नगर छोड़ दिया, सर्व परिग्रह त्याग दिया। ग्राम–ग्राम भिक्षा माँगकर उदर भरता हूँ। केवल एक मात्र प्रभु चरणों की ही शरण है। अव मेरे मन में सांसारिक भोग की भी कोई वासना एवं कामना नहीं रही। किसी के प्रति मोह नहीं रहा। सर्व संसार के प्रति विशुद्ध प्रेम है। अव मुझे दु:ख में उद्विग्नता तथा सुख में हर्प नहीं होता। निन्दा व प्रशंसा में हर्ष विषाद नहीं होता महल–मसान व स्वर्ण-कांच मेरे लिये दोनों समान हैं। फिर भी गुरु जी ने दीक्षा देने से क्यों इन्कार कर दिया। कुछ समझ में नहीं आता। आदि नाना प्रकार के विकल्पों ने उसके हृदय में तूफान मचा दिया। एक ज्वार–भाटा उमड़ आया। वह विचार-विमग्न हो गया। परन्तु अन्तर्गुरु सोये नहीं थे। वे सदा जागरूक रहते हैं। ज्योंही उनकी पावन शरण में गया त्योंही उनकी पावन दृष्टि पड़ी अपने प्रिय शिष्य पर। तव ही उनका वरद हस्त उठ जाता है। उन्होंने कहा कि देख, समझ तू सवके द्वार पर भिक्षा मांग आया परन्तु श्याम के द्वार पर भिक्षा मांगने जाने में हिचकिचाहट क्यों ? उससे द्वेप क्यों। वहां पर तूने भिक्षा नहीं मांगी। मन ने शैतानियत की। कहने लगा नहीं, नहीं मुझे उससे कोई द्वेप नहीं है। मेरे लिए सभी वरावर हैं। परन्तु यदि उसके द्वार पर जाऊँ और वह मार दे तो। मैंने ही तो समता रक्खी है उसके मन में तो कपाय है। अन्तर्प्रभु

ने कहा कि वह मारेगा या नहीं यह तो सोचना उसका काम है। परन्तु तू वहां क्यों न गया ? मन में एक महाभारत छिड़ गया। वासना अपनी ओर पूरी शक्ति लगाकर खेंचती है, यहां मान पर कड़ी चोट लग रही थी। शत्रु के द्वार पर भिखारी के रूप में नम्र बनकर जाना, यह मुझसे न हो सकेगा। अहो ! कितना बड़ा युद्ध था प्रभु के साथ कषाय का ? अन्त में प्रभु की विजय हुई। कषाय चीखती रह गई। वह मान को पददलित करके प्रभु-भावपन्न होकर चल दिया श्याम के मकान की ओर। द्वार पर पहुँचते ही अलख जगा दी। नौकरों ने देखा, "ओह ! राम द्वार पर भिखारी के वेश में है। क्या देख रहे हैं। क्या स्वप्न है यह ?" और उन्होंने आँखें फाड़-फाड़कर खूब गौर से देखा उनके हाथ सुन्न हो गये, ऊपर उठ न सके और दौड़े चले गए श्याम के पास। हे स्वामिन ! आज द्वार पर राम भिखारी के वेश में भिक्षा मांगने आया है, चलो देख लीजिए। श्याम ने कहा अरे ! ऐसा नहीं हो सकता। तुम्हें भ्रम हो गया है। परन्तु ज्योंही श्याम ने अपनी आँखें फाड़कर देखा। है तो राम ही। तब ही राम ने पुनः आवाज लगाई—"मैं राम आपके द्वार पर भिक्षा मांगने आया हूँ।" अब राम के हृदय में प्रकाश व उल्लास था। उसकी आवाज में बल था, अब वह प्रभु बन चुका था। ऐसे प्रभु से कौन द्वेष कर सकता है ? श्याम का हृदय बदल गया और वह राम के चरण पकड़कर रोने लगा। अब वह उससे क्षमा मांगने लगा। अब वह उससे गले मिला और अपने मैल को धो लिया। अब राम गुरु के पास गया और सुना दी अपने हृदय की आवाज। भगवन ! दीक्षा दे दें। गुरु जी ने आशीर्वाद देते हुए कहा कि बेटा दीक्षा तो हो चुकी और दीक्षा कब लोगे ? इसको कहते हैं वास्तविक दीक्षा। इसमें स्वयं अपनी वृत्ति में समस्त अपराध चुनकर निकाले जाते हैं, यही ईश्वरत्व प्राप्ति की दक्षता है।

शत्रुता दूसरे में नहीं, अपने मन में है। अपने मन का अक्स ही दूसरे में दीखा करता है। अपनी शत्रुता निकाल दें तो सब प्रेमी दिखाई देंगे। समस्त वासनायें विनष्ट हो जायेंगी। हृदय में अमृतसर उमड़ेगा। उसमें गुणों रूप कमल पर परमात्मा विराजमान होंगे और

[illegible] जन स्तुति करने वाले। जिस प्रकार सीता ने अग्नि परीक्षा दी तो अग्नि जल बन गई और निन्दक वन्दीगण। अतः अपने मन को पढ़ें, उसके आवरण का भेदन करें। अन्तर्प्रभु का अनुकरण करें, वासनाओं व संस्कारों को कुचल दें। तब दीक्षा स्वतः हो जायेगी। उसी प्रभु का दर्शन, स्पर्शन करके प्राप्त होने वाली ११ अवस्थायें बताई थीं तथा आगे की साधु अवस्था भी उससे अगली श्रेणी है। इसी प्रकार की क्रम विकास की अवस्थायें अन्य सम्प्रदायों में भी पाई जाती हैं जैसे–कुटीचक, बहुदक, हस, परमहंस व अवधूत आदि।

जब चित्त में जिज्ञासा का उन्मेष होता है, कल्याण की कामना जागृत होती है, तब वह जिज्ञासा ही गुरु के रूप में साकार हुआ करती है अर्थात् तब अवश्य ही सद्गुरु की प्रांप्ति हो जाया करती है। तब गुरु शिष्य को मन्त्र दान पूर्वक उसका संस्कार करते हैं, उसके शरीर व आत्मा की शुद्धि करते हैं, गुरु उसमें आत्म-शक्ति का स्फुरण करते हैं। ऐसे समय मानों गुरु व शिष्य की आत्मा एक हो जाती है। योग के अनुसार गुरु उसकी कुण्डलिनी शक्ति का जागरण करते हैं। इससे वह आत्म प्राप्ति में समर्थ हो जाता है। गुरु द्वारा प्रदत्त दीक्षायें भी दो प्रकार की होती हैं, एक गृहस्थ धर्म के अनुकूल दीक्षा तथा एक संन्यास दीक्षा। दोनों अपने-अपने स्थान पर उपयोगी हैं। दोनों से कल्याण होता है। अतः अपने योग्य उस प्रकार दीक्षायें ग्रहण कर कल्याण सम्पादन करना चाहिये। कम से कम जीवन के स्थूल दोषों को निकालकर परमात्म दर्शन तो अवश्य ही करना चाहिये। वह संन्यास दीक्षा भी दो ढंग की होती है, एक ब्रह्मचर्य आश्रम से ग्रहण की जाने वाली, दूसरी गृहस्थाश्रम से धारण की जाने वाली है। श्रेष्ठ तो प्रथम ही है क्योंकि हस्तिस्नानवत् होने वाली दूसरी प्रकार की दीक्षा में वासनाओं का जाल फैल जाता है। कीचड़ को लपेटकर धोने में कौन बुद्धिमत्ता है। अतः प्रथम दीक्षा सीधा ब्रह्मत्व पद प्रदानकारी है, भगवान, अन्तरात्मा परमात्मा से मिला देने वाली है परन्तु जो जिस स्थिति में है उसका उसी योग्य कल्याण साधन करना चाहिये। तब ही सच्चा सुख मिल सकेगा।